उपमितिभव-
प्रपंचाकथा।

प्रथम प्रस्ताव।

अनुवादक

नाथूराम प्रेमी।

जैनहितैषीका सप्तमवर्षका उपहार ।

नमो वीतरागाय ।

उपमितिभवप्रपंचाकथा ।

प्रथमप्रस्ताव

जिसे

देवरीनिवासी नाथूराम प्रेमीने

श्रीसिद्धर्षिके मूल संस्कृत ग्रन्थपरसे

हिन्दीमें अनुवाद की

और

बम्बईके कर्नाटक प्रेसमें छपाकर

प्रकाशित की ।

श्रीवीर निर्वाण सम्वत २४३७

ईस्वी सन १९११
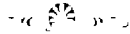
PUBLISHER
NATHURAM PREMI,
Proprietor
SHRI JAIN GRANTHRATNAKAR KARYALAYA
HIRABAUG GIRGAON, BOMBAY.

भूमिका।
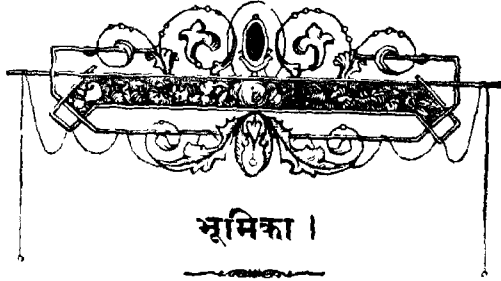
जैनियोंका साहित्यसागर बहुत विस्तीर्ण और गंभीर है। ज्यों ज्यों अवगाहन किया जाता है त्यों त्यों उसमेंसे ऐसे २ अपूर्व ग्रन्थ-रत्न हाथ लगते है, जिनके विषयमें पहिले कभी किसीने कल्पना भी नहीं की थी। यह उपमितिभवप्रपंचाकथा नामका ग्रन्थ उन्ही रत्नोंमेसे एक सर्वोपरि रत्न है। औरोंका चाहे जो मत हो, परन्तु मै तो इस ग्रन्थपर यहा तक मुग्ध हू कि, संस्कृतसाहित्यमें और शायद अन्य किसी भाषाके साहित्यमें भी इसकी जोड़का दूसरा ग्रन्थ नहीं समझता हू। मुझे पूर्ण आशा है कि, जो सज्जन इस ग्रन्थका भावपूर्वक आदिसे अन्त तक एकबार अध्ययन करेंगे, उनका भी मेरे ही समान मत हुए विना नही रहेगा। इस अभूत-पूर्व शैलीका—इस हृदयद्रावक रचनाप्रणालीका यह एक ही ग्रन्थ है। कठिनसे कठिन और रूक्ष विषयको सरलसे सरल और सरस बनानेका शायद ही कोई इससे अच्छा ढग होगा।

यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है। कोई १६ हजार श्लोकोंमे इसकी रचना हुई है। कई वर्ष पहिले कलकत्तेकी बगाल रायल एशियाटिक-सुसाइटी इस सम्पूर्ण मूल ग्रन्थको शुद्धतापूर्वक प्रकाशित कर चुकी है। इस ग्रन्थके आठ प्रस्ताव वा आठ भाग हैं, जिनमेंसे केवल एक प्रस्तावका हिन्दी अनुवाद मै आज आपके साम्हने उपस्थित कर सका हूं। यदि आप लोगोंको मेरा यह प्रयत्न रुचिकर हुआ

और मुझसे हो सका तो इसके शेष भागोंका अनुवाद करनेके लिये भी मै शीघ्र प्रयत्न करूंगा ।

इस ग्रन्थके मूलकर्त्ता महामनीषी श्रीयुत **सिद्धर्षिसूरि** विक्रमकी दशवीं शताब्दिमें हो चुके है। यह ग्रन्थ उन्होंने जेठ सुदी ५ गुरुवार पुनर्वसु नक्षत्र संवत् ९६२ में पूर्ण किया था, ऐसा इस ग्रन्थकी अन्त प्रशस्तिमे विदित होता है —

संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहिते लंघिते चास्याः ।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥

इस श्लोकमें केवल संवत्सर शब्द दिया है, जिससे यद्यपि यह स्पष्ट नही होता है कि, यह वीरनिर्वाण, विक्रम, शक आदि कौनसा संवत्सर है। परन्तु सिद्धर्षिविषयक अनेक दन्तकथाओंके आधारसे तथा अन्यान्य कई ग्रन्थकारोंके उल्लेखोंसे यह प्राय सिद्ध ही हो चुका है कि उपमितिभवप्रपञ्चाकथा—विक्रमके[1] ही ९६२ संवत्सरमें पूर्ण हुई है।

महात्मा सिद्धर्षिके गुरुका नाम **गर्गर्षि** और दादागुरुका नाम **सूराचार्य** था। **प्राभाविकचरित्र** नामके ऐतिहासिक ग्रन्थसे पता लगता है कि, **शिशुपालवध** (माघ) नामक सुप्रसिद्ध महाकाव्यके कर्ता **माघ** महाकवि श्रीसिद्धर्षिके काकाके लड़के थे। गुजरात प्रान्तके **श्रीमाल** नामक नगरके राजा **श्रीवर्मलाभ**के मंत्री **सुप्रभदेव**के दो लडके थे, एक **दत्त** और दूसरा **शुभकर** । **दत्त**के यहा महाकवि **माघ**ने और **शुभंकर**के यहा महामनीषी **सिद्धर्षि**ने जन्म लिया था। सिद्धर्षि अपनी पहिली अवस्थामें बड़े जुआरी थे, इस-

---

१ प्रो० पिटर्सनने इस सवत्सरको श्रीवीरनिर्वाण सवत् माना है परन्तु वह केवल भ्रम है।

लिये एक दिन अपनी स्त्री और मातासे झिड़के जानेके कारण वे आधी रातको घरसे निकल गये थे और जैनगुरुओंके उपाश्रयमें स्थान पाकर टिक गये थे। बस वहींसे आपके जीवनाभिनयका नवीन सीन आरम्भ हुआ था। महात्मा **गर्गर्षिके** प्रभावशाली उपदेशने आपके द्यूतव्यसनलिप्त हृदयको विरागी बना दिया और एक ऐसे व्यसनमें लगा दिया, जिससे लाखों जीवोंको सुखका सच्चा और सरल मार्ग मिल गया। दीक्षा लेकर आपने इतना अध्ययन किया और अपनी प्रतिभाको ऐसी विकसित की कि, कालान्तरमें उसमें उपमितिभव-प्रपंचा जैसे अपूर्व और आनन्दपूर्ण फल लगे।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि, महात्मा **सिद्धर्षिके** बनाये हुए अनेक ग्रन्थ होंगे। परन्तु अभीतक आपके केवल चार ही ग्रन्थोंका पता लगा है जिनमेंसे एक यह है, दूसरा **धर्मदासगणिकृत उपदेशमाला** नामक ग्रन्थकी टीका है, तीसरा **न्यायावतारविवृत्ति** है, जिसे रूसके डा. एन. मीरोनो छपा रहे है, चौथा **श्रीचन्द्र-केवलिचरित्र** है जो प्राकृत भाषामें है। सुनते है कि, इन ग्रंथोंकी रचना भी बडी ही सुन्दर हुई है और आपके अगाध पांडित्यको प्रगट करती है।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि महात्मा **सिद्धर्षिने** बौद्धग्रन्थोंका कई वर्षतक अध्ययन किया था और उसके कारण आप एक प्रकारसे बौद्ध ही हो गये थे, परन्तु पीछेसे **श्रीहरिभद्रसूरिकृत ललितविस्तर** नामक ग्रन्थके अध्ययनसे फिर जैनधर्ममें सुदृढ़ हो गये थे। ललितविस्तरके कारण श्रीहरिभद्र-सूरिके विषयमें आपकी जो निःसीम भक्ति हो गई थी, उसको आपने अपनी रचनामें कई स्थानोंमें प्रगट किया है। आपने इस

ग्रन्थमें जो **धर्मबोधकर** नामका पात्र है, उसे श्रीहरिभद्रसूरिको लक्ष्य करके और जो निष्पुण्यक दरिद्री है, उसे अपने आपको लक्ष्य करके बनाया है। बल्कि इस पहिले प्रस्तावको यदि हम श्रीसिद्धर्षिकी आध्यात्मिक जीवनी कहैं, तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। आपने जगह २ संसारी जीवको जो "सोऽय मदीयो जीव." कह कर उल्लेख किया है, उससे यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है।

महात्मा सिद्धर्षिका चरित्र कैसा था, इसके जाननेके लिये किसी ऐतिहासिक ग्रन्थके खोजनेकी आवश्यकता नही है। इस ग्रन्थका प्रत्येक शब्द और प्रत्येक पद उनके जीवनचरित्रको प्रगट कर रहा है। वे बड़े ही निराभिमानी, उदार, शान्त, कोमल, नम्र और अन्तर्दृष्टा होंगे। जीवमात्रका उपकार करनेकी प्रबल वासना जैसी उनके उदार-हृदयमें जागृत रही है, वैसी उस समय शायद ही किसी विद्वानके हृदयमें रही होगी। मनुष्यके भावोका सजीव चित्र खींचनेमें और कविताको माधुर्य प्रसादादिगुणोंसे भूषित करनेमें वे सिद्धहस्त थे। उन्होंने जो कविता की है, वह अपना पाडित्य प्रकट करनेके लिये नहीं किन्तु लोगोंका उपकार करनेके लिये की है। इसी कारण उनकी कविता उत्कृष्ट काव्यके गुणोंसे युक्त होनेपर भी सरल, श्लेष और उपमालकारसे वेष्टित होनेपर भी कोमल तथा सुबोध्य, अध्यात्मका निरूपण करनेवाली होनेपर भी सरस और सुखद हुई है। ऐसी अच्छी कविताशक्ति पाकर भी उन्होंने उसका उपयोग केवल जीवोंको संसारसमुद्रके पार करनेके लिये किया, इससे पाठक समझ सकते हैं कि, वे किस श्रेणीके महात्मा थे।

महात्मा सिद्धर्षि श्वेताम्बरसम्प्रदायके अनुयायी थे। इससे सभव

है कि हमारे दिगम्बरसम्प्रदायके अनुयायी इस ग्रन्थके पढनेमे अरुचि करे और शायद हमपर भी कुछ कुपित होवें। परन्तु हमारी छोटीसी समझमें जैनियोंको इतना संकीर्णहृदय नहीं होना चाहिये। उन्हे अपने पूर्वजोंके अनुसार इस मतका अनुयायी होना चाहिये कि "**युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः**" अर्थात् इसका विचार किये विना कि यह किसका कथन है, जिसका वचन युक्तिपूर्ण हो उसीका ग्रहण कर लेना चाहिये। और "**गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः**" अर्थात् गुणवान् पुरुषोंमें जो गुण होते है, वे ही पूजाके वा सत्कारके योग्य होते है उनका बाहिरी वेष और अवस्था आदि नहीं। क्या हुआ यदि महात्मा सिद्धर्षि श्वेताम्बर थे तो? यह देखो कि उनका ग्रन्थ तो श्वेत अम्बर धारण नहीं किये है, वह तो वीतराग भगवानके प्रतिपादन किये हुए मार्गका बतलानेवाला है? उससे हमारा कोई उपकार हो सकता है या नहीं? उसमे हमारे हृदयपर कुछ प्रभाव डालनेकी शक्ति है कि नहीं? यदि ये सब गुण उसमे है, तो हम क्यो उसका अध्ययन नहीं करे? आचार्य सिद्धर्षिने स्वयं इस ग्रन्थके अन्तमें अपनी नम्रता और निरभिमानता प्रगट करते हुए कहा है कि, "हे भव्यो! मेरी योग्यता अयोग्यताका विचार करके इस ग्रन्थके श्रवण करनेमे अरुचि नहीं करना। मै चाहे जैसा होऊ पर इससे आप लोगोंको रत्नत्रयमार्गकी प्राप्ति अवश्य होगी। कोई आदमी भूखा हो, तो यह नहीं हो सकता कि, उसके परोसे हुए भोजनसे दूसरे पुरुषोंकी भी भूख नहीं मिटे।" आशा है कि, इन बातोंका विचार करके हमारे दिगम्बराम्नायी सज्जन इस ग्रन्थका स्वाध्याय करनेमें किसी प्रकारका संकोच न करेंगे।

इस ग्रन्थका एक अनुवाद मैंने विक्रम संवत् १९६१ मे जब कि मै गजपंथसिद्धक्षेत्रपर जलवायुपरिवर्तनके लिये लगभग तीन महीने रहा था, किया था और वह पूरा भी हो चुका था। परन्तु पीछे कई कारणोंसे मुझे उससे अरुचि हो गई और यह नवीन अनुवाद करना पड़ा। पहिले अनुवादमे बडी भारी त्रुटि यह थी कि, उसमें संस्कृतके शब्दोंकी बहुत ही अधिकता थी और वाक्यरचना भी क्लिष्ट हो गई थी। इस अनुवादमें उस दोषको निकालनेकी जितनी मुझसे हो सकी है, उतनी कोशिश की है और मूलके भावोंको समझानेकी ओर तथा भाषा नई ढंगकी लिखनेकी ओर बहुत ध्यान रक्खा है। शब्दश अनुवाद करनेमे भाषा भद्दी और क्लिष्ट हो जाती है, इसलिये यह अनुवाद प्राय स्वतत्रतासे किया गया है. परन्तु साथ ही मूलके किसी भी वाक्यका अथवा शब्दका भाव नही छूटने पाया है। विद्वान् पाठक मूलग्रन्थसे मिलान करके इस बातकी परीक्षा कर सकते है।

इस ग्रन्थका अनुवाद करते समय मुझे श्रीयुक्त मोतीचन्द गिरधर कापडिया, बी. ए., के गुजरातीभाषान्तरसे तथा बम्बई दि० जैनपाठशालाके अध्यापक श्रीयुत पण्डित मनोहरलालजीसे बहुत कुछ सहायता मिली है, इसलिये उक्त दोनों महाशयोंका मै हृदयसे कृतज्ञ हू।

इस अनुवादको सरल और निर्दोष बनानेके लिये कोई बात उठा नही रक्खी गई है, इतनेपर भी यदि इसमें कुछ दोष है और मुझ जैसे अल्पज्ञकी कृतिमें दोष होना स्वाभाविक है, तो उनके लिये मै पाठकोंसे क्षमा मांगता हू।

इस ग्रन्थसे यदि एक भी हिन्दी जाननेवाले सज्जनका उपकार हुआ, तो मै अपने परिश्रमको सफल समझूंगा। अलमतिविस्तरेण।

चन्दाबाडी, बम्बई,
आषाढकृष्णा प्रतिपदा
श्रीवीर नि० स० २४३७ }

नाथूराम प्रेमी।

ओं नमः सिद्धेभ्यः।

श्रीसिद्धर्षिविरचित

उपमितिभवप्रपंचाकथाका

हिन्दी भाषानुवाद।

मंगलाचरण।

नमो निर्नाशिताशेषमहामोहहिमार्तये।
लोकालोकमलालोकभास्वते परमात्मने ॥ १ ॥
नमो विशुद्धधर्माय स्वरूपपरिपूर्त्तये।
नमो विकारविस्तारगोचरातीतमूर्त्तये ॥ २ ॥
नमो भुवनसन्तापिरागकेसरिदारिणे।
प्रशमामृततृप्ताय नाभेयाय महात्मने ॥ ३ ॥
नमो द्वेषगजेन्द्रारिकुम्भनिर्भेदकारिणे।
अजितादिजिनस्तोमसिंहाय विमलात्मने ॥ ४ ॥
नमो दलितदोषाय मिथ्यादर्शनसूदिने।
मकरध्वजनाशाय वीराय विगतद्विषे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिसने महामोहरूपी हिमकी सारी[1] पीड़ाओंको नाश कर दी है और जो अलोकके सहित तीनों लोकोंको निर्मलतासे—स्पष्टतासे प्रकाशित करनेके लिये सूर्यके समान है, उस परमात्माको नमस्कार हो। अभिप्राय यह है कि जिसतरह सूर्य शीतकी पीड़ाको दूर

१ मोहिनी कर्मकी २८ प्रकृतिया हैं। तत्सबधी नाना प्रकारकी पीडाए।

करनेवाला तथा संसारको प्रकाशित करनेवाला है, उसी प्रकारसे सर्वज्ञदेव मोहकी पीड़ाओंको नाश करनेवाले और संसारको ज्यों-का त्यों प्रकाशित करनेवाले हैं ॥ १ ॥ जो विशुद्धस्वभावस्वरूप है अथवा जिसका विशुद्ध धर्म है, जिसने अपने आत्मस्वरूपकी परि· पूर्णताको प्राप्त कर ली है, और जिसकी मूर्ति सब प्रकारके विकारोंसे परे है, अर्थात् जिसके स्वरूपमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता है, उसको (परमात्माको) नमस्कार हो ॥ २ ॥ तीनों लोकोंको दुखी करनेवाले, रागरूपी सिंहका जिन्होंने विदारण कर दिया है और समतारूपी अमृतके पानसे जो सन्तृप्त हो गये है, उन महात्मा आदिनाथको नमस्कार हो ॥ ३ ॥ जिन्होंने अपने वैरी द्वेषरूपी बड़े भारी हाथियोंके मस्तकोंको फाड़ डाला है, और जिनकी आत्माएं निर्मल—कर्मकलंकरहित है, उन अजितनाथसे लेकर महावीरपर्यन्त तीर्थंकर—सिंहोंको नमस्कार हो ॥ ४ ॥ जिसने क्षुधादि अठारह प्रकारके दोषोको दलन कर डाला है, मिथ्यादर्शनको नष्ट कर दिया है, कामदेवका विनाश कर दिया है और अन्तरंग बहिरंग शत्रु जिसके रहे नही है, उस वीर भगवान्को नमस्कार हो ॥ ५ ॥

अथवा—

अन्तरङ्गं महासैन्यं समस्तजनतापकम् ।
दलितं लीलया येन केनचित्तं नमाम्यहम् ॥ ६ ॥
समस्तवस्तुविस्तारविचारापारगोचरम् ।
वचो जैनेश्वरं वन्दे सूदिताखिलकल्मषम् ॥ ७ ॥
मुखेन्दोरंशुभिर्व्याप्तं या बिभर्ति विकस्वरम् ।
करे पद्ममचिन्त्येन धाम्ना तां नौमि देवताम् ॥ ८ ॥
परोपदेशप्रवणो मादृशोऽपि प्रजायते ।
यत्प्रभावान्नमस्तेभ्यः सद्गुरुभ्यो विशेषतः ॥ ९ ॥

भावार्थ—अथवा सब लोगोंको दुखी करनेवाली अन्तरंगकी महासेनाको अर्थात् रागद्वेषादि विकारोंको जिसने लीला मात्रमें नष्ट कर दिया हो, ऐसे किसी महात्माको (चाहे वह ब्रह्मा विष्णु बुद्ध आदि कोई भी हो) मैं नमस्कार करता हूं ॥ ६ ॥ जो सारे पदार्थोंके अपार विस्तारका विचार करते है–अर्थात् निरूपण करते हैं, और जो सारे पापोंका नाश करते है, उन जिनेश्वरदेवके वचनोंकी अर्थात् जैनशास्त्रोंकी मै बन्दना करता हूं ॥ ७ ॥ जो अपने अचिन्तनीय तेजके कारण अपने मुखरूपी चन्द्रमाकी किरणोंसे व्याप्त रहनेपर भी फूले हुए कमलको हाथमें धारण किये रहती है, उस देवताको अर्थात् वाग्देवी सरस्वतीको मै नमस्कार करता हूं। अभिप्राय यह है कि, चन्द्रमाके होते हुए कमल कभी नहीं फूलता है, परन्तु सरस्वतीका ऐसा आश्चर्ययुक्त प्रकाश है कि, उससे उसके मुखचन्द्रकी किरणें पड़ते रहनेपर भी हाथका कमल फूला हुआ रहता है ॥८॥ और जिनके प्रभावसे मुझ सरीखे थोड़ी बुद्धि धारण करनेवाले भी दूसरोंको उपदेश देनेमें अथवा ग्रन्थ रचनेमें समर्थ हो जाते हैं, उन सद्गुरुओंको विशेषतासे नमस्कार हो ॥ ९ ॥

अथ प्रस्तावना ।

इस प्रकार नमस्कार करनेसे विघ्न शान्त हो जानेके कारण अब मै (ग्रन्थकर्त्ता) निराकुल होकर विविक्षित विषयका अर्थात् जिसे मै कहना चाहता हूं, उसका प्रस्ताव करता हूं।

किसी शुभकर्मके उदयसे यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यजन्म धारण करके तथा उसमें भी उत्तम कुल और उत्तम धर्मादि सामग्री पाकरके भव्य जीवोंको चाहिये कि, जो सब वस्तुएं छोड़ने योग्य हैं, उन्हें छोड़ देवें, जो करनेयोग्य कर्म है, उन्हें करें, जो प्रशंसा करने

योग्य हैं, उनकी प्रशंसा करें और जो सुनने योग्य हैं, उन्हें अच्छी तरहसे सुनें ।

मन वचन और कायसम्बन्धी ऐसी प्रत्येक क्रिया जो कि परिणामोंमें थोड़ीसी भी मलिनता उत्पन्न करनेवाली अतएव मोक्षकी रोकनेवाली (अशुभआस्रवरूप) हो, अपनी भलाई चाहनेवालोंको छोड़ देनी चाहिये । (**हेय**)

जिसके करनेसे चित्त मोतीकी माला, बर्फ, गायके दूध, कुन्दके फूल और चन्द्रमाके समान निर्मल होता है, वह (शुभास्रवरूप) कर्म बुद्धिमानोंको करना चाहिये । (**कर्तव्य**)

जिनका अन्तरात्मा निर्मल हो गया है, उन्हें तीन लोकके नाथ जिनेन्द्रदेव, उनका निरूपण किया हुआ जैनधर्म, और उसमें स्थिर रहनेवाले पुरुष, इन तीनोंकी ही निरन्तर प्रशंसा करनी चाहिये । **(श्लाघ्य)**

और जिनकी बुद्धि श्रद्धासे भले प्रकारसे शुद्ध है, अर्थात् जो सम्यग्दृष्टी जीव है, उन्हें सम्पूर्ण दोषोंका (पापोंका) नाश करनेके लिये सर्वज्ञके कहे हुए सारभूत वचनोंको ही जी लगाकर सुनना चाहिये । **(श्रोतव्य)**

अत्र सर्वज्ञदेवके वचन ही जगत्के हितकरनेवाले और सुननेके योग्य है, ऐसा विचार करके यहांपर पहले उन्हीका प्रकरण है इस कारण उन वचनोंके ही अनुसार महामोहादिकी मिटानेवाली और भवोंके विस्तारको बतलानेवाली इस **भवप्रपंचाकथाके** कहनेका प्रारंभ किया जाता है ।

आस्रवके करनेवाले पांच महादोष अर्थात् हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील, और परिग्रह, पांच इन्द्रियां, महामोहसहित चार कषाय

(अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ,) और मिथ्यात्व राग-द्वेषादि सारी अन्तरंग सेनाके दोषोंको 'सर्वज्ञभाषित' वचन बतलाते हैं। इसी प्रकारसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संतोष, प्रशम, तप, संयम, सत्यादि करोड़ों सुभटोंसे भरी हुई अन्तरंगकी सेना है। इस सेनाके गुणोंके गौरवको भी 'सर्वज्ञके वचन' पद पदपर प्रगट करते हैं। इसके सिवाय एकेन्द्रियादिके भेदसे अनन्त प्रकारके भवप्रपंचको भी जो कि अतिशय दुःखरूप है, सर्वज्ञके वचन सम्पूर्णरूपसे वर्णन करते हैं।

ऐसी महाभित्तिका अर्थात् सर्वज्ञवचनरूपी बड़ी भारी दीवालका आश्रय लेकर कहनेके कारण मुझ सरीखे अल्पज्ञके वचनोंको भी जैनेन्द्र सिद्धान्तसे निकले हुए झरने समझना चाहिये।

संसारमें धर्म, अर्थ, काम और संकीर्ण (धर्म, अर्थ, काम तीनोंका मिश्रण) इन चारके आश्रयसे चार प्रकारकी कथाएं होती हैं। अर्थात् कथाओंके धर्मकथा, अर्थकथा, कामकथा और संकीर्ण कथा (मिश्रित) ये चार भेद होते हैं। इनमेंसे **अर्थकथा** उसे कहते हैं, जिसमें साम दाम आदि नीतिका, धातुवाद आदि शिल्पका, और कृषि (खेती) मसि वाणिज्य आदि जीविकाओंका वर्णन किया जाता है और इसलिये जो धन कमानेका उत्तम द्वार होती है। इस कथासे परिणाम क्लेशित रहते हैं, इस हेतुसे यह पापका बंध करनेवाली और दुर्गतिको पहुंचानेमें तत्पर मानी गई है। **कामकथा** उसे कहते हैं, जिसमें विषयोंके कारणरूप अभिप्राय गर्भित रहते है अर्थात् जिससे विषय पोषण होता है, अवस्था और चतुराई जिससे सूचित होती है और अनुराग (प्रेम) तथा चेष्टा आदिकोंसे जो उठती है। यह मलीन विषयोंमें रागकी बढ़ानेवाली और बुद्धिको उलटी करनेवाली है, अतएव कुगतिमें ले जानेवाली है। बुद्धिमान लोग **धर्मकथा** उसे कहते हैं, जिसकी

दया, दान, क्षमा आदि धर्मके अंगोंपर प्रतिष्ठा की जाती है, और जिसमें धर्मको धारण करने योग्य बतलानेका अभिप्राय रहता है। यह चित्तको शुद्ध करनेवाली होती है, इस हेतुसे पुण्यका बंध करनेवाली और कर्मोंकी निर्जरा करनेवाली होती है। इसी लिये इसे स्वर्ग और मोक्षकी कारण बतलाई है (पुण्य बंधसे स्वर्ग और कर्मोंकी निर्जरासे मोक्ष होता है)। और **संकीर्णकथा** उसे कहते है, जो धर्म अर्थ और कामके साधनोंके उपाय बतलानेमें तत्पर रहती है और नानाप्रकारके उत्तम रसोंके अभिप्राय प्रगट करती है। यह कथा चित्तमें विचित्र २ प्रकारके विचार उत्पन्न करती है, इसलिये अनेक प्रकारके फल देनेवाली और मनुष्यको विद्वान् बनानेमें एक प्रकारकी कारण है।

ऊपर कही हुई चार प्रकारकी कथाओंके सुननेवाले 'श्रोता' भी चार तरहके होते है। उनके लक्षण हम सक्षेपमें कहते है, सो सुनो;—

जो पुरुष माया, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह तथा मदसंयुक्त होकर **अर्थकथा** सुननेकी इच्छा करते है, वे **तामस** प्रकृतिवाले अधम श्रोता है। जो रागलिप्त और विवेकरहित होकर **कामकथा** सुननेकी बांछा करते है, वे **राजस** प्रकृतिवाले मध्यम श्रोता है। जो मोक्षकी आकांक्षामें एकतान एकमन होकर केवल शुद्ध **धर्मकथाके** ही सुननेकी अभिलाषा करते है, वे **सात्विक** प्रकृतिवाले उत्तम श्रोता है और जो इहलोक तथा परलोक दोनोंकी अपेक्षा रखके धर्म, अर्थ, कामरूप **संकीर्णकथा** सुनना चाहते हैं, वे किंचित् सात्विक गुणवाले (राजस-तामससहित) वरमध्यम अर्थात् मध्यमोंमें भी श्रेष्ठ प्रकारके श्रोता है।

जो जीव रजस् तमस् प्रकृतिवाले होते है, वे अर्थ और कामकथाका निषेध करनेवाले धर्मके शासकोंका अर्थात् धर्मकथा कहनेवालोंका

तिरस्कार करके स्वयं ही अर्थ और कामकथामें लवलीन हो जाते है। उनकी रागद्वेष और महामोह (मिथात्व–अज्ञान) रूप तीनों अग्नियां अर्थ और कामकथा रूपी घीकी आहुतियोसे और २ बढ़ती है। मोरोंकी वाणी जैसे शरीरको रोमाचित करती है, उसी प्रकारसे काम और अर्थकथा पापोंके करनेमें उत्साह बढ़ाती है। इसलिये कामकथा और अर्थकथा कभी नहीं करनी चाहिये। भला ऐसा कौन चतुर है, जो घावपर नमक डालता है? भाव यह कि, जीव एक तो कर्मोंके कारण वैसे ही दुखी हो रहा है, इसपर काम अर्थकी कथाओंसे फिर और दु.ख देनेवाले कर्म उपार्जन करना जलेपर नमक डालनेके समान है।

दूसरोंकी भलाई करनेवाले बुद्धिमानोंको वही काम करना चाहिये, जिससे समस्त जीवोंका यहां हित हो और परलोकमें भी हो। इससे यद्यपि काम और अर्थकी कथाएं लोगोंको प्यारी लगती हैं, तथापि विद्वानोंको उन्हें छोड़ देना चाहिये। क्योंकि उनका परिणाम (नतीजा) बहुत भयंकर है।

ऐसा समझकर जो भाग्यशाली पुरुष है, वे समस्त प्राणियोंकी इस लोक और परलोकसम्बन्धी भलाईकी इच्छासे अमृतसरीखी निर्मल धर्म-कथाकी रचना करते हैं।

कोई २ आचार्य मनुष्यके चित्तको अपनी ओर खींचनेवाली **संकीर्ण-कथा** (धर्मअर्थकामसंयुक्त) को भी सत्कथा मानकर उसे मार्ग-की ओर अवतरण करनेवाली अर्थात् जैनधर्ममें लगानेवाली होनेके कारण चाहते है अर्थात् संकीर्णकथाकी रचना करते है। दूसरोंकी भलाई करनवाले पुरुषोंको चाहिये कि, संसारमें जीव जिस प्रकारसे बोधभा-जन अर्थात् दर्शन ज्ञान चरित्रके पात्र बन जावें, उसी प्रकारसे प्रति-बोधित करनेका प्रयत्न करें। पहले पहल मूढ़बुद्धिवालोंके हृदयमें धर्म

नहीं भासता है, अतएव (धर्मके साथ २) काम और अर्थसम्बन्धी कथा कहकर उनका मन आकर्षित किया जाता है। और जब इस प्रकारसे उनका मन आकर्षित हो जाता है, तब फिर वे धर्म ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाते है। इसलिये विक्षेपद्वारसे अर्थात् उपचारसे संकीर्णकथाको भी सत्कथा कहते है। सो यह हमारी '**उपमितिभवप्रपंचाकथा**' यद्यपि शुद्धधर्मका ही कथन करेगी, तथापि धर्मकथाके गुणोंकी अपेक्षा रखती हुई अर्थात् धर्मकथाके लक्षणको नहीं छोड़ती हुई कहीं २ संकीर्णरूपताको (मिश्रताको) भी धारण करेगी। अभिप्राय यह है कि, धर्मकथा तो रहेगी ही, पर कहीं २ प्रसंगसे उसमें अर्थ और कामसम्बन्धी विषय भी कहा जावेगा।

संस्कृत और प्राकृत ये दो ही भाषाए प्रधानताके योग्य है। इनमेंसे पहली जो संस्कृत भाषा है, वह तो दुर्विदग्ध पुरुषोके ही हृदयमें रहती है। और दूसरी जो प्राकृत भाषा है, वह बालकोंको भी अच्छी तरह समझमें आती है और सुननेमें प्यारी लगती है। इस लिये प्राकृत भाषामें ही यह कथा कहनी चाहिये थी। परन्तु वह प्राकृत भाषा भी उन दुर्विदग्ध पुरुषोंकी समझमें नही आती है—उन्हें नहीं रुचती है। और यह नीति है कि, "यदि उपाय हो, तो सबका ही चित्त रजन करना चाहिये।" इसलिये उनके अनुरोधसे यह कथा संस्कृतमें ही कही जायगी। परन्तु इसकी संस्कृत न तो बड़े २ वाक्योंसे अतिशय गूढ़ अर्थवाली होगी और न अप्रसिद्ध पर्यायोंसे (शब्दोंसे) कठिन होगी—इससे यह सर्वजनोचित होगी अर्थात् इसे सब कोई अच्छी तरहसे समझ सकेंगे। दुर्विदग्ध भी समझ लेंगे और बालबुद्धि भी समझ लेंगे। *

* अभिप्राय यह है कि, हमारी कृतिसे सबको लाभ पहुंचना चाहिये। इस लिये हम इसे सरल संस्कृतमे बनाते है। यदि प्राकृतमें बनाते तो बालबुद्धि ते

इस कथाका कथाशरीर इसके **'उपमितिभवप्रपंचा'** इस नामसे ही प्रतिपादित होता है। क्योंकि इसमें एक कथाके मिषसे (बहानेसे) संसारके प्रपंचोंकी उपमिति अर्थात् समानता बतलाई गई है। इस संसारके प्रपंचका अर्थात् विस्तारका यद्यपि सभी प्राणी प्रत्यक्ष अनुभवन करते है–इसे सब ही जानते हैं, तो भी यह परोक्ष सरीखा जान पड़ता है, इस लिये यह वर्णन करनेके योग्य समझा गया।

इस प्रकार भ्रम और अज्ञानका नाश करनेके लिये यह स्मृतिरूपी बीजको उगानेवाला कथाका अर्थ संग्रह करके अर्थात् कथाके भेद और उसके श्रोता आदि बतलाकर अब कथाशरीर अर्थात् कथाकी रचना कहते है:—

यह कथा दो प्रकारकी है, एक अन्तरंग और दूसरी बाह्य। इनमेंसे पहले अन्तरंगकथाशरीरको अर्थात् अन्तरंग रचनाको बतलाते है:—

अन्तरंगकथाशरीर।

इस कथाके स्पष्ट रीतिसे आठ प्रस्ताव (प्रकरण) किये जावेंगे। उनमें जो विषय कहे जावेंगे, वे इस प्रकार है:—

१. प्रथम प्रस्तावमें मैंने जिस हेतुसे यह कथा इस प्रकारसे रची है, उसका प्रतिपादन किया जावेगा[1]।

समझ लेते, परन्तु दूसरे जो ब्राह्मणादि विद्वान् है–जो प्राकृत नही पढ़ते हैं–नहीं समझते है, वे इससे लाभ नहीं उठा सकते। ऐसा जान पडता है कि, 'दुर्विदग्ध' शब्द देकर ग्रन्थकर्त्ताने वेदानुयायी विद्वानोपर आक्षेप किया है, जो सुखबोध्य प्राकृतको भी नहीं पढते हैं। ग्रन्थकर्त्ताके समयमे जैनी ही बहुत करके प्राकृत पढ़ते थे। ब्राह्मण विद्वान् भी इस अपूर्व ग्रन्थको पढकर अपना कल्याण करें, इस अभिप्रायसे ही यह ग्रन्थ संस्कृतमें रचा गया है।

[1] इस पुस्तकमें जो कि छपकर प्रकाशित होती है, केवल पहला प्रस्ताव है। इसके आगे प्राय इतने ही बडे २ सात प्रस्ताव और है। वे आगे क्रमसे प्रकाशित किये जावेंगे।

२. दूसरे प्रस्तावमें "'**भव्यपुरुष**' सुन्दर मनुष्यभवको पाकर अपना वास्तविक हित जाननेकी इच्छा करता हुआ '**सदागम**'को प्राप्त करेगा और उसके समीप रहेगा। फिर वह उसीके (सदागमके) द्वारा '**अगृहीतसंकेता**'के व्याजसे सूचित किया हुआ संसारी जीवका तिर्यंचगतिसम्बन्धीचरित्र '**प्रज्ञाविशाला**'के साथ सुनकरके विचार करेगा।" इन सब बातोंका वर्णन किया जावेगा।

३. तीसरे प्रस्तावमें "हिंसा और क्रोधके वशवर्ती होनेसे और स्पर्शनेंद्रियके कारण विवेकरहित होनेसे संसारी जीव दुखी होगा और अन्तमें मनुष्यजन्मसे भ्रष्ट होगा।" यह सब वर्णन संसारी जीवके मुखसे ही निवेदन कराया जावेगा।

४. चौथे प्रस्तावमें "संसारीजीव मान, असत्य और जिह्वा इन्द्रियके विषयमें रत होकर दु:खसे पीड़ित होता है और दुःखोंसे भरे हुए अनन्त तथा आपार संसारमें वारंवार भ्रमण करता है।" इन सब बातोंका विस्तारसे वर्णन किया जायगा।

५. पांचवें प्रस्तावमें संसारी जीव चोरी माया और नासिका इन्द्रियके विषयका विपाक (नतीजा) कहेगा।

६. छठे प्रस्तावमें संसारी जीव लोभ, मैथुन और नेत्र इन्द्रियके विषयका परिणाम कहेगा, जो कि उसने पहले अनुभवन किया था।

७. सातवें प्रस्तावमें महामोहकी सम्पूर्ण चेष्टाओंका तथा परिग्रह और कर्ण इन्द्रियके विपाकका वर्णन किया जायगा।

तीसरेसे लेकर सातवें तक पांच प्रस्तावोंमें संसारी जीवका जो कुछ वृत्तान्त कहा जायगा, उसमेंसे कुछ तो उसका स्वयं सम्पन्न किया हुआ अर्थात् अनुभव किया हुआ है और कुछेक दूसरे पुरुषोंका कहा हुआ है। तथापि वह सब विश्वासके योग्य है, इसलिये जीवका ही कहा गया है।

८. आठवें प्रस्तावमें पहले कही हुई सब बातोंका मेल मिलता है और संसारी जीव अपना हित करता है। संसारीजीवका संसारसे विरक्त करनेवाला चरित्र सुनकर भव्यपुरुष प्रबुद्ध होता है–चेत जाता है। इसी प्रकारसे संसारी जीवकी बारबारकी प्रेरणासे अगृहीतसंकेता बड़ी कठिनाईसे प्रतिबोधित होती है–सुलटती है, ऐसा निवेदन किया जायगा।

पहले केवलज्ञानसूर्य–**श्रीनिर्मलाचार्यको** पाकर संसारी जीवने अपनी यह सारी कथा पूछी, सीखी और भले प्रकार स्मरण रक्खी थी। इसी प्रकारसे 'सदागम'से बार २ पूछकर विशेषतासे स्थिर की थी। इसलिये फिर उसने अवधिज्ञानके उत्पन्न होनेसे इन सब बातोंका प्रतिपादन किया है।

इस कथामें अन्तरंगलोगोंका ज्ञान, बोलना, जाना, आना, विवाह, बन्धुता आदि सब लोकस्थिति कही गई है, सो उसे दूषित नहीं समझना चाहिये। क्योंकि वह सब दूसरे गुणोंकी आवश्यकतासे उपमाके द्वारा ज्ञान होनेके लिये ही निवेदन की गई है।

क्योंकि—"जो प्रत्यक्षसे तथा अनुभवसे सिद्ध होता हो, और युक्तिसे जिसमें किसी प्रकारका दोष न आता हो, उसे सत्कल्पित उपमान कहते है।"

इस प्रकारके उपमान (समानता) सिद्धान्तोंमें अनेक जगह दिखलाई देते है। जैसे कि, (१) **आवश्यकसूत्रमें** आक्षेपयुक्त मुद्गशैलकी और पुष्करावर्त मेघकी समानता बतलाई गई है, (२) **नागदत्त**की कथामें क्रोधादिकोंको सर्प कहे है, इसी प्रकारसे (३) **पिण्डैषणा** अध्ययनमें मछलीने अपना अभिप्राय कहा है, और (४) **उत्तराध्यनमें** सूखे पत्तोंने नवीन कोंपलोंके प्रति) अपना संदेशा कहलाया है।

इसलिये सिद्धान्तोंके समान यहां भी जो कुछ (सत्कल्पित उपमान) कहा जायगा, उसे युक्तियुक्त अर्थात् ठीक समझना चाहिये। क्योंकि यह उपमारूप होगा।

इस प्रकारसे यह अन्तरंगकथाशरीर कहा गया। अब बहिरंगकथाशरीर कहते हैः—

बाह्यकथाशरीर।

मेरुपर्वतके पूर्व विदहमें **सुकच्छविजय** नामका एक देश है और उसमें **क्षेमपुरी** नामकी नगरी है। इस नगरीमें **सुकच्छविजय**के स्वामी **श्रीअनुसुन्दरचक्रवर्ती** रहते थे। वे अपनी आयुके अन्तमें एकवार अपने देशके देखनेकी अभिलाषासे विलास करते हुए निकले और एक दिन **शंखपुर** नामके नगरमें पहुंचे। वहां **चित्तरण** नामके उद्यानके बीचमें एक **मनोनन्दन** नामका जैनमन्दिर था, जिसमें **श्रीसमन्तभद्र** नामके आचार्य विराजमान थे और उनके समीप **महाभद्रा** नामकी प्रवर्तिनी (साध्वी), **सुललिता** नामकी अतिशय भोली राजपुत्री, **पुंडरीक** नामका राजपुत्र और एक बड़ी भारी सभा भरी हुई थी।

उस समय वे धैर्यवान् **समन्तभद्राचार्य** ज्ञानदृष्टिसे उस चक्रवर्तीको महापापोंका करनेवाला जानकर इस प्रकारसे बोले किः— " लोकमें जिसका कोलाहल सुन पड़ता है, वह संसारीजीव नामका चोर है। इस समय उसे मारे जानेके स्थानमें लिये जाते है।" यह सुनकर महाभद्राने विचार किया कि, आचार्य महाराजने जिस जीवका वर्णन किया है, वह कोई नरकगामी जीव होगा। अतएव वह करुणालु होकर वहासे चली और चक्रवर्तीके समीप गई। वहां चक्रवर्तीको **महाभद्राके** दर्शनमात्रसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब चक्रवर्तीने अपना सब वृत्तान्त जानकर वैक्रियकलब्धिके बलसे चोरका आकार

धारण किया और वह महाभद्राके साथ आचार्यके समीप गया। वहांपर सुललिताने चोरीका सम्पूर्ण वृत्तान्त आदरपूर्वक पूछा। तब आचार्य महाराजकी प्रेरणासे और उस राजपुत्रीको प्रतिबोधित करनेकी इच्छासे संसारी जीवने (चक्रवर्तीने) अतिशय वैराग्यका उत्पन्न करनेवाला अपना भवप्रपंच उपमाके द्वारा कह सुनाया। जिसके प्रसंग मात्रको सुनकर **पुंडरीक** राजकुमार क्षणभरमें अपने लघुकर्मपनेके (निकटभव्यताके) कारण प्रबुद्ध हो गया। परन्तु वह राजपुत्री प्राचीन कर्मोंके दोषसे विशेषतासे कहनेपर और वारंवार प्रेरणा करनेपर भी प्रतिबुद्ध नहीं हुई। निदान बड़े कष्टसे जैसे तैसे वह राजपुत्री बोधको प्राप्त हो गई और वे सब **आचार्य, महाभद्रा, सुललिता, पुंडरीक** और **चक्रवर्ती** आत्माके लिये पथ्यरूप जो शिवालय (मोक्ष), उसमें जा पहुंचे।

इस कथाशरीरको अपने हृदयमें धारण कर रखना चाहिये। क्योंकि आठवें प्रस्तावमें यह सर्व वृतान्त प्रगट होगा।

विशेष विज्ञप्ति।

यथार्थमें यह कथा सर्वज्ञप्रणीत सिद्धान्तके वचनरूपी अमृतसागरसे निकाली हुई एक जलबिन्दुके समान है। अतएव दुर्जन लोग इसके श्रवण करनेके योग्य नहीं है। क्योंकि "कालकूट विष अमृतबिन्दुके साथ नहीं मिलाया जाता है।" और पापियोंकी पापकारिणी चर्चा ही क्यों की जावे? इस विचारसे यहांपर दुर्जनोंके दोषोंका विचार भी नहीं किया जाता है।

दुर्जनकी स्तुति की जावे तो भी वह काव्यके दोषोंको प्रकाश करता है और यदि निंदा की जावे तो और भी अधिक करता है। इसलिये उसकी उपेक्षा करना ही उचित है। अथवा दुर्जनोंकी निन्दा

करनेसे अपनी दुर्जनता प्रगट होती है और स्तुति करनेसे असत्य-भाषणका दोष लगता है। अतएव उनके विषयमें कान न देना ही युक्त है।

हमारी इस कथाके श्रवण करनेके पात्र क्षीरसागरके समान गंभीर हृदयवाले, लघुकर्मी (निकटसंसारी) और भव्य सज्जन पुरुष है। परन्तु ऐसे पुरुषोंकी भी प्रशंसा तथा निन्दा नहीं करनी चाहिये। इनके विषयमें भी मौन धारण करना श्रेष्ठ है। क्योंकि इन अनन्त गुण-शाली पुरुषोंकी निन्दा करनेमें तो महापाप है, और स्तुति हम सरीखे जड़ बुद्धियोंके द्वारा होना कठिन है। इसके सिवाय सज्जन पुरुषोंकी स्तुति न की हो, तो भी वे काव्यमें गुणोंको ही देखते है और दोषोंको ढँकते है। क्योंकि महात्मा पुरुषोंकी प्रकृति ही ऐसी होती है। अत एव उनकी स्तुति न करके मै केवल उनसे श्रवण करनेके लिये इस प्रकार अभ्यर्थना करता हूं कि–" हे भव्यपुरुषो! मेरे अनुरोधसे थोडी देर कान लगाकर और चित्तको एकाग्र करके मैं जो वृत्तान्त कहता हूं, उसे सुनोः—"

इति प्रस्तावना।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

अथ प्रथम प्रस्ताव ।

दृष्टांतकथा ।

स लोकमें एक अदृष्टमूलपर्यन्त नामका बड़ा भारी नगर है, जो अनादिकालसे अनन्त जीवोंसे भरा हुआ है और सदा ऐसा ही रहेगा । यह नगर बादलोंके बराबर ऊंचे और मनको हरण करनेवाले महलोंसे सघन हो रहा है, जिनके आदि अन्तका कुछ पता नहीं है, ऐसे बड़े २ बाजारोंसे सुशोभित हो रहा है, अपार तथा बड़े २ विस्तारवाली बिक्रीकी चीजोंसे भर रहा है, और उनमें सबसे अधिक कीमती जो रत्न है, उनके करोड़ोंके ढेरोंसे व्याप्त हो रहा है। विचित्र २ प्रकारके सुन्दर चित्रोंकी रचनासे शोभित हजारों देव-मन्दिरोंसे जिनपर कि बालकोंके हृदय आकर्षित हो रहे हैं और देख-नेवालोंके नेत्र स्थिर हो रहे है, वह बहुत ही शोभित होता है । और वाचाल बालकोंके मनोहर कलकल शब्दसे शब्दमय हो रहा है।

वह नगर चारों ओरसे एक अलंघ्य और ऊंचे कोटरूपी चूड़ेसे (वलयसे) घिर रहा है । उसकी मध्यभागकी गम्भीरताका (वि-

---

१. दृष्टान्तकी प्रत्येक बात अच्छी तरहसे विचार करके बाचना चाहिये । आगे दार्ष्टान्तमें यहाकी कही हुई सब बातें घटित की जावेंगी । उस समय इस विषयकी खूबी समझमें आवेगी ।

स्तारका) कुछ पता नहीं लगता है। उसके चारों ओर एक जलसे भरी हुई खाई है, जिससे वह दुर्गम्य है, अर्थात् बाहरका कोई पुरुष उसमें प्रवेश नहीं कर सकता है, और शोभनीय मनोहर तरंगोंवाले सरोवरोंके कारण वह आश्चर्यकारी बन रहा है। शत्रुओंको दुख देने वाले घोर अंधकूपोंसे जो कि कोटके पास २ चारों ओर बने हुए हैं, वह नगर छुप रहा है। देवोंके विहार करने योग्य बगीचोंसे जो कि नाना प्रकारके फल फूलोंसे लद रहे है और भ्रमण करते हुए भौंरोंके तीव्र झंकाररूपी संगीतसे चित्तको चुरा रहे है; वह नगर सुंदर है। इस प्रकार अनेक आश्चर्योंवाला और चमत्कारोंका कारण वह 'अदृष्ट-मूलपर्यंत' नामका महानगर है।

उस नगरमें एक **निष्पुण्यक** नामका दरिद्री रहता है। उसका पेट बहुत बड़ा है। उसके भाई बन्धु सब मर गये है। वह दुर्बुद्धि है, धन तथा पुरुषार्थसे रहित है। भूख सहते सहते उसका शरीर बहुत दुबला हो गया है। भिक्षाके लिये एक घड़ेका फूटा हुआ ठीकरा लेकर वह घर घर निन्दा सहता हुआ रात दिन फिरता है। वह अनाथ है। धरतीमें सोनेसे उसकी पीठ तथा दोनों करवट छिल गये है। धूलसे उसका सारा शरीर मैला हो रहा है और फटे हुए चीथड़ोंसे ढॅक रहा है। उसे दुर्दमनीय (शैतान) लड़कोंके झुंडके झुंड क्षण क्षणमें मारते है। लकड़ी मुक्कों तथा बड़े २ ढेलोंकी मारसे वह जर्जरा–अधमरा हो रहा है। इस प्रकार सारे शरीरमें बड़ी २ चोटोंके लगनेसे उसका आत्मा अतिशय दुखी हो रहा है और "**हा माता, मेरी रक्षा करो**" इस प्रकार दीनतासे चिल्लाता हुआ वह पागल सा हो रहा है। इसके सिवाय वह उन्माद, ज्वर, कोढ़, खुजली तथा शूल वेदनासे भी दुखी है। सारांश यह कि वह सारे

रोगोंका घर बन रहा है और उनकी वेदनाओंके जोरसे विह्वल हो रहा है। जाड़ा, गर्मी, डांस, मच्छर, भूख, प्यास आदि उपद्रवोंसे वह पीडित है, और इससे घोर नारकीके समान वेदनाओंका अनुभवन करता है।

उस **निष्पुण्यक** दरिद्रीको देखकर सज्जनोंको दया उत्पन्न होती है, मानी पुरुषोंको हंसी आती है, बालकोंको खेल सूझता ह और पापकर्म करनेवालोंको दृष्टान्तपूर्वक उपदेश मिलता है।

उस महानगरमें और भी अनेक रंक देखे जाते है, परन्तु **निष्पुण्यक**के समान अभागोंका शिरोमणि दूसरा कोई नही है।

वह निष्पुण्यक "इस घरमें मुझे भिक्षा मिलेगी" "इसमें मिलेगी" इत्यादि चिन्ता करके निरन्तर नाना प्रकारके विकल्पोंसे व्याकुल तथा रौद्रध्यानमें मग्न रहता है। परन्तु तो भी उसे भिक्षामें कुछ भी नहीं मिलता है, केवल खेद ही होता है। और यदि कभी थोड़ा बहुत कदन्न (बुरा भोजन) पा लेता है, तो उमसे एक राज्य पा लेनेके समान सतुष्ट होता है।

लोगोंके अपमानपूर्वक दिये हुए उस बुरे अन्नका भोजन करते हुए भी वह इम बातसे बहुत ही डरा करता है कि, कोई बलवान् इसे छीन ले जायगा। और उस कदन्नके खानेसे उसको कुछ तृप्ति भी नहीं होती है। बल्कि भूख और २ बढ़ती है और खाया हुआ जो कुछ पच जाता है, वह उसे वात विशूचिका (महामारी) आदि रोग बनकर पीड़ित करता है। यद्यपि इनके सिवाय और भी सब रोगोंका कारण वही कदन्न है, और पहलेके रोगोंका बढ़ानेवाला भी वही है, परन्तु वह बेचारा उसीको सुन्दर मानता है और दूसरे अच्छे भोजनकी ओर देखता भी नहीं है। स्वादिष्ट भोजनोंका स्वाद उसने कभी स्वप्नमें भी नहीं जाना है कि, कैसा होता है।

वह व्याकुलचित्त दरिद्री उस नगरके ऊंचे नीचे घरोंमें, नाना प्रकारकी गलियोंमें तथा मुहल्लोंमें बहुत बार भ्रमण कर चुका है–चक्कर लगा चुका है। और इस प्रकार भ्रमण करते २ उस दुखी तथा महापापसे पीड़ित आत्मावाले दरिद्रीका न जाने कितना समय बीत गया है।

इस महानगरमें एक **सुस्थित** नामका प्रसिद्ध राजा है, जो समस्त जीवोंपर स्वभावसे ही अतिशय वात्सल्य रखता है। एक दिन बहुतसे चक्कर लगाते २ वह भिखारी इस राजाके महलके पास आया। उसके द्वारपर एक **स्वकर्मविवर** नामका द्वारपाल पहरा दे रहा था। उसने निष्पुण्यकको अतिशय दयाका पात्र देखकर दयाभावसे उस अपूर्व राजमन्दिरमें चला जाने दिया।

रत्नोंकी राशिकी ज्योतिसे उस राजमहलमें अंधकारकी कुछ भी बाधा नहीं है अर्थात् निरन्तर प्रकाश रहता है और स्त्रियोंकी कटिमेखला (बजनेवाली करधनी) तथा बिछुओंके उठे हुए झकार शब्दसे वह महल सदा सुन्दर लगता है। देवोपनीत वा देवदूष्य (देवोंद्वारा आये हुए) वस्त्रोंके चंदोवोंसे जिनमें कि चंचल मोतियोंकी मालाएं लटक रहीं है वह महल युक्त है और लोगोंके ताम्बूलोंकी ललाईसे रंगे हुए मुखोंसे मनोहर है।

उस राजमन्दिरका आंगन विचित्र भक्तिसे बनाई हुई, सुगन्धित, और सुन्दरवर्णवाली मालाओंसे जिनपर कि शब्द करते हुए भौंरे मनोवेधक गायन करते हुए जान पड़ते है; महक रहा है—भर रहा है—और मर्दन (मालिश) करते समय सुगंधित विलेपन (उबटन) के गिर जानेसे वह कीचड़मय हो रहा है। इसके सिवाय वहांके प्रसन्नचित्त प्राणी आनन्दमर्दल (एक प्रकारका बाजा) बजा रहे हैं।

उस राजमहलमें अनेक राजा रहते हैं जिनके कि जाज्वल्यमान अन्तर्गत तेजसे शत्रुओंका नाश हो गया है और बाहरी सब प्रकारकी क्रियाएं अतिशय शान्त दिखलाई देती है। सारे जगतकी चेष्टाएं जिन्हें साक्षात् सरीखी हो रही हैं, अपनी विचक्षण बुद्धिसे जिन्होंने अपने समस्त शत्रुओंको जान लिया है, और समस्त नीतिशास्त्रोंको जो जानते हैं ऐसे मंत्रीगणोंसे भी वह राजमहल भर रहा है। ऐसे असंख्य योद्धा भी वहां रहते है, जो रणागनमें अपने साम्हने साक्षात् यमराजको भी देखकर नहीं डरते है।

करोड़ों नगरों, असंख्य ग्रामों तथा खानियोंका निराकुलतासे परिपालन करनेवाले–प्रबन्ध करनेवाले—नियुक्तकोंसे (कामदारोंसे) तथा अतिशय स्वामिभक्त चतुर तलवर्गिकों (कोटपालों)से वह राजमहल संकीर्ण हो रहा है। ऐसी बुड्ढी स्त्रियोंसे भी वह महल शोभित है, जिनकी विपयवासनाएं नष्ट हो गई है, और जो उन्मत्त स्त्रियोंको रोकनेमें तत्पर रहती हैं। वह राजभवन अनेक सुभटोंसे चारों ओरसे घिरा हुआ रहता है और सैकड़ों विलासिनी स्त्रियोंकी शोभासे देवलोकको भी जीतता है।

सुन्दर कंठवाले तथा प्रयोगोंके जाननेवाले गवैयों द्वारा गाये हुए और वीणा तथा वेणुके (वांसुरी के) शब्दोंसे मिले हुए गायनोंसे वह राजमहल कानोंको सुखी करता है, चित्तको अपनी ओर खींचनेवाले विचित्र २ प्रकारके सुन्दर चित्रोंसे अतिशय सुन्दरताके कारण नेत्रोंको जहां तहां निश्चल कर देता है, अर्थात् जो जिस चित्रको देखता है, उसके नेत्र उसीपर गढ़ जाते है, अतिशय सुगंधित चन्दन, अगरु, कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थोंसे नासिकाको अमोदित करता है, कोमल वस्त्र, कोमल रुईकी शय्या, तथा सुन्दर स्त्रियोंके संयोगसे उनके योग्य सब

लोगोंकी स्पर्शेन्द्रियको प्रमुदित करता है और चित्तमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले तथा जिव्हाको आनन्दित करनेवाले भोजनोंसे सम्पूर्ण प्राणियोंको स्वस्थ करता है।

इस प्रकार उस राजमहलको सारी इन्द्रियोंकी संतृप्तिका कारण देखकर वह भिखारी "वास्तवमें यह क्या है?" इस प्रकार विचार करता हुआ विस्मित हो गया। यद्यपि उन्मादके कारण वह रंक वास्तवमें उस राजमहलकी कोई विशेषता नहीं जान सका, तथापि जब उसे कुछ होश हुआ, तब उसके हृदयमें राजमहलसम्बन्धी स्फूर्ति हो आई। वह विचारने लगा कि, यह निरन्तर उत्सवपूर्ण रहनेवाला राजमहल जो आज मुझे द्वारपालके प्रसादसे देखनेको मिला है, मैंने पहले कभी नहीं देखा था। यद्यपि मैं पहले भ्रमण करता हुआ इस महलके द्वार तक अनेक वार आ चुका हूं, परन्तु यहांके महापापी द्वारपालोंने मुझे बराबर रोका है और कभी भीतर नहीं जाने दिया है। मैं सचमुच ही 'निष्पुण्यक' हूं, जो पहले कभी इस देवदुर्लभ महलको नहीं देख सका और न कभी देखनेके लिये मैंने कोई उपाय किया। अज्ञानतासे मेरी चेतना नष्ट हो रही थी, इस कारण और तो क्या मैंने कभी यह जाननेकी भी इच्छा नहीं की कि, यह राजमहल कैसा है? यह द्वारपाल मेरा परमबन्धु है, जिसने दया भावसे मुझ भाग्यहीनको भी यह चित्तको आल्हादित करनेवाला रमणीय महल दिखला दिया। ये लोग अतिशय धन्य हैं, जो इस राजमन्दिरमें सब प्रकारके कष्टोंसे रहित और प्रसन्नचित्त होकर सदा ही मौज करते हैं।

जिस समय वह चेतनायुक्त भिखारी इस प्रकार विचार कर रहा था, उसी समय एक नई बात हुई; जो आगे कही जाती है:—

उस राजमहलके ऊपर सातवीं मंजिलपर पहले कहा हुआ परम ऐश्वर्यशाली 'सुस्थित' नामका राजा विलास करता हुआ विराजमान है। और अपने नीचेके निरन्तर आनन्दरूप और नाना व्यापारमय पूर्वोक्त सम्पूर्ण नगरको साक्षात् चारों ओरसे देखता है। उस नगरके बाहर तथा भीतर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो उसको नहीं दिखती हो। इस फाटकके भीतर पहुंचे हुए भिखारीको भी जिसके कि देखनेसे अतिशय ग्लानि उत्पन्न होती थी, और जो बड़े २ रोगोंसे घिरा हुआ तथा सज्जन पुरुषोंकी दयाका स्थान था, उस निर्मल दृष्टि-वाले महात्मा राजेन्द्रने दया करके देखा और अपनी दृष्टिकी वर्षासे मानो उसके पापोंको धो दिया—पापरहित कर दिया।

उस समय भोजनालय (रसोई) के **'धर्मबोधकर'** नामके अधि-कारीने राजाकी उस गरीबपर पड़ती हुई दृष्टिको देखी। वह जान-नेकी इच्छासे इस प्रकार विचारने लगा कि, "इस समय मै यह क्या अद्भुत दृश्य देख रहा हूं? जिसपर महाराज अपनी विशेष दृष्टि डालते है, वह मनुष्य तत्काल ही तीन भुवनका राजा हो जाता हैं और यह भिक्षुक जिसे मै देख रहा हू, गरीब, रोगी, निर्धन, मूर्ख, तथा संसारको विरक्त करनेवाला है, अतएव आलोचना करनेसे—भलीभांति विचार करनेसे भी इसपर महाराजकी दृष्टिका पड़ना कैसे संभव हो सकता है? आगे पीछे सोचनेसे यह बात कुछ समझमें नहीं आती है। परन्तु हा! अब मालूम हुआ। इसकी ओर देखनेका यही कारण है कि, **'स्वकर्मविवर'** द्वारपालने इसे यहां प्रवेश करने दिया है। और यह स्वकर्मविवर अपरीक्षक नहीं है। अर्थात् जब यह खूब बारीकीसे परीक्षा कर लेता है, तब किसी-को भीतर आने देता ह। इसीसे राजाने इस रंककी ओर 'सम्यक्-दृष्टि' से देखा है। इसके सिवाय एक कारण और भी है। वह यह

कि, इस राजभवनपर जिसका पक्षपात हो जाता है, वह पूज्य परमेश्वरका (राजाका) प्यारा हो जाता है। और यह रंक नेत्ररोगसे अतिशय दुखी है, परन्तु राजभवनके देखनेकी इच्छासे इसके नेत्र उघड़ गये है। इसका मुंह जो कि देखनेमें बहुत ही घिनौना मालूम पड़ता है, राजमहलके देखनेसे प्रसन्नताके कारण दर्शनीय हो गया है। इसी प्रकारसे इसके धूलसे मलीन हुए अंग प्रत्यंग रोमांचित हो रहे हैं। जान पड़ता है कि, इस राजभवनपर इसका अनुराग हुआ है और इसीसे राजाने इसपर अपनी दृष्टि डाली है। सो यद्यपि इस समय यह दरिद्री भिखारीका वेप धारण कर रहा है, परन्तु राजाके अवलोकन कर लेनेसे यह शीघ्र ही अपने स्वरूपको पा लेगा अर्थात् राजाके तुल्य हो जायगा।" ऐसा विचार करके **धर्मबोधकर** उस रंकपर दयालु हो गया। लोकमें जो यह कहावत सुनी जाती है कि, "**यथा राजा तथा प्रजा**" अर्थात् "जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है" सो सर्वथा सत्य है। अभिप्राय यह कि, जैसा दयालु **सुस्थित** नामका राजा था, वैसा ही उसका सेवक **धर्मबोधकर** भी निकला।

इसके पीछे वह तत्काल ही आदरपूर्वक उसके पास गया और बोला, "आओ! आओ! मै तुम्हें भिक्षा दूं।" उस समय उसको पास आते देखकर वे सबके सब लड़के जो कि कठिनाईसे भी नहीं रुकते थे, कठोर थे, और उस भिखारीके पीछे लगे हुए थे, भाग गये। इसके बाद धर्मबोधकर उसे प्रयत्नपूर्वक भोजन करनेके योग्य स्थानमें ले गया और वहां उसने अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि "इसे भिक्षा दो।"

धर्मबोधकरकी **तद्दया** नामकी एक सुन्दर लड़की है। वह अपने पिताकी आज्ञा सुनकर आदरके साथ उठी और सारे रोगोंके नाश

करनेवाले, तेज और बलके बढ़ानेवाले, सुगंधित, सुरस, स्निग्ध (चिकने), देवोंके लिये भी दुर्लभ और मनको हरण करनेवाले **महाकल्याणक** नामके परमान्नको (खीरको) लेकर निष्पुण्यकके पास आई। परन्तु धर्म-बोधकके द्वारा वहां पहुंचाया हुआ वह दरिद्री अपने तुच्छ अभिप्रायोंके कारण शंकासे व्याकुल होकर विचारने लगा कि, "यह पुरुष मुझे स्वयं बुलाकर भिक्षाके लिये लाया है, इस लिये इसका अभिप्राय मुझे अच्छा नहीं जान पड़ता है। मेरा यह मिट्टीका ठीकरा भिक्षासे प्राय. भर चुका है, सो यह इसे किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर अवश्य ही छीन लेगा। तो क्या अब मै यहांसे एकाएक भाग जाऊं? या बैठकर इसे यहा ही भक्षण कर लूं? अथवा यह कहकर कि 'मुझे भिक्षासे प्रयोजन नहीं है—भीख नहीं चाहिये' यहांसे शीघ्र ही चला जाऊ?' इस तरहके अनेक विकल्पोंके उठनेसे उसका भय बढ़ने लगा, जिसमे कि उसे यह भी स्मरण नही रहा कि, मै कहां जाता हूं और कहां खडा हूं। और अतिशय मूर्छा वा ममत्वमें ग्रसित होनेके कारण '**संरक्षणनिमित्तक**'[1] रौद्रध्यानमें मग्न होकर उसने अपने नेत्र बन्द कर लिये। इसके एक ही क्षण पीछे उसकी सर्व इन्द्रियोंकी क्रियाएं बन्द हो गई—वह लकड़ीके समान अचेत होकर कुछ भी विचार नहीं कर सका। और **धर्मबोधकर**की कन्या **तद्दया**को भी जो कि 'यह भोजन ग्रहण करो, यह परमान्न ग्रहण करो' इस प्रकार वारम्वार कहते कहते थक गई थी, नहीं पहिचान सका। "मेरा भीखका यह थोड़ासा कदन्न सब रोगोंका करनेवाला नहीं हो सकता है" इस प्रकारके ध्यानसे वह अज्ञानी उस अमृतके समान भोजनकी उत्तमताको जो कि तद्दया उसे देती थी, विचार ही नहीं सकता था।

---

१ अपनी प्यारी चीजकी रक्षा करनेके लिये जो ध्यान किया जाता है, वह 'सरक्षणनिमित्तक' नामका पाचवां रौद्रध्यान है।

ऐसी असंभव घटनाको प्रत्यक्ष होती देखकर और उससे अचंभित होकर **धर्मबोधकर** उस समय चिन्तवन करने लगा कि, "यह क्या बात है, जो यह दरिद्री सुन्दर मीठे परमान्नको न तो ग्रहण करता है और न कुछ उत्तर ही देता है। मुंह फाड़ रहा है, नेत्रोंको बन्द किये हुए है और मानो अपना सर्वस्व ही खो चुका है, इस तरह ममत्ववश काष्ठकी खूंटीके समान स्थिर हो रहा है। इससे मै समझता हूं कि, यह पापी इस परमान्नके योग्य नहीं है। परंतु इसमें इस बेचारेका कुछ दोष नहीं जान पड़ता है। क्योंकि इसे बाहिर भीतर सब ओरसे रोगोंने घेर रक्खा है। और मै समझता हूं कि उनकी पीड़ाओंसे अतिशय दुखी होनेके कारण ही यह कुछ नहीं जानता है— जड़ सरीखा हो रहा है। यदि ऐसा नहीं होता, तो यह बात कैसे हो सकती थी कि, यह चेतनायुक्त जीव होकर भी इस थोडेसे कुत्सित भोजनमें तो आसक्त रहता और अमृत सरीखे स्वादिष्ट भोजनको ग्रहण नहीं करता। हाय! तो अब यह बेचारा निरोगी कैसे होगा? क्या उपाय करूं? हां, ज्ञात हुआ,-मेरे पास इसे नीरोग करनेकी तीन बहुत अच्छी औषधियां है।

उनमेसे पहला तो **विमलालोक** नामका उत्तम अंजन है, जो सब प्रकारके नेत्ररोगोंको दूर कर सकता है और यदि वह विधिपूर्वक लगाया जावे, तो मैं समझता हू कि, भूत और भविष्यतकाल-सम्बन्धी तथा सूक्ष्म और दूरवर्ती[1] पदार्थोंको देखनेमें वह मुख्य कारण होगा। अर्थात् इस अंजनके प्रसादसे वह सब कुछ देखने लगेगा। दूसरी औषधि **तत्त्वप्रीतिकर** नामका तीर्थजल है। वह सब रोगोंको क्षीण कर डालता है। विशेष करके उन्मादको मिटाता है

१ सुमेरु आदि।

और विद्वानोंका कथन है कि, चतुरदृष्टि होनेका वह एक प्रधान उपाय है। और तीसरी औषधि यही **महाकल्याणक** नामका परमान्न है जो कि अभी इसके सम्मुख लाया गया है। यह सब ही प्रकारकी व्याधियोंको जड़से नाश कर सकता है। यदि विधिपूर्वक प्रयोग किया जावे, तो यह कान्ति, पुष्टता, धीरज, बल, मनकी प्रसन्नता, उत्साह, अवस्थाकी (उमर की) स्थिरता, पराक्रम, और अजरअमरपना उत्पन्न करता है। इसमें सन्देह नहीं है। मैं संसारमें इससे अधिक अच्छी और किसी औषधिको नहीं समझता हूं। इस लिये अब मुझे इन औषधियोंका क्रमसे प्रयोग करके इस बेचारे रंकको व्याधियोंसे अच्छी तरहसे मुक्त कर देना चाहिये।" धर्मबोधकरने अपने चित्तमें इस प्रकारका निश्चय कर लिया।

इसके पीछे उसने शलाका (सलाई) लेकर और उसकी नोकपर अंजन लगाकर भिखारीकी आखोंमें उसके यहां वहां गर्दन हिलाने और नेत्र बन्द करनेपर भी आज दिया। यह विमलालोक अंजन आल्हादक (प्रसन्न करनेवाला) था, ठंडा था, और अचिन्तनीय गुणवाला था। इसके लगानेके बाद ही निष्पुण्यकको फिर चेतना आगई—होश आगया। थोड़ी देरमें उसने नेत्र खोल दिये। उसके सारे रोग नष्ट सरीखे हो गये, और चित्तमें कुछेक आल्हादित होकर वह विचारने लगा कि, यह क्या हो गया? परन्तु पहले अभ्याससे कारण अपनी उस भीखकी रखवाली करनेके अभिप्रायको वह नहीं छोड़ सका। अर्थात् उसकी आकुलता उस समय भी उसे बनी रही। वह चिंता करने लगा कि, हाय! यह तो निर्जन स्थान है—दूसरा यहां कोई भी नहीं है, इस लिये कोई मेरी भिक्षा अवश्य ही ले जायगा, और फिर भाग जानेकी इच्छासे चारों दिशाओंकी ओर वारंवार दृष्टि दौड़ाने लगा।

इसके अनन्तर अंजनके लगानेसे सचेत हुआ देखकर धर्मबोध-करने निष्पुण्यकसे मीठे शब्दोंमें कहा कि, "हे भद्र! अब इस संतापको शमन करनेवाले जलको पी, जिससे तेरा शरीर भली भांति स्वस्थ हो जाय।" परन्तु "न जाने इसके पीनेसे मेरी क्या दशा होगी," ऐसी शंकासे व्याकुल होकर उस मूर्खने उस जलको नहीं पीना चाहा। यह देख उसके नहीं चाहते हुए भी अतिशय दयालु धर्मबोधकरने वह जल उसका मुंह फाड़कर जबर्दस्ती पिला दिया। क्योंकि वह बहुत ही हितकारी था। उसके पीते ही निष्पुण्यक स्वस्थ सरीखा हो गया। उसे जो बड़ा भारी उन्माद था, वह एक प्रकारसे नष्ट हो गया, व्याधियां हलकी पड़ गईं और सारे शरीरमें दाह उत्पन्न होनेसे जो पीड़ा होती थी, वह दूर हो गई। क्योंकि वह जल शीतल था, अमृतके समान मीठा था, चित्तको प्रसन्न करनेवाला था और संतापको नाश करनेवाला था। उस समय सारी इन्द्रियोंके प्रसन्न होनेसे तथा निर्मल चेतनाके उत्पन्न होनेसे वह अपने स्वस्थअन्तरात्माके द्वारा विचारने लगा—"खेद है कि मुझ पापी तथा महामोहसे घिरे हुए मूर्खने इस अतिशय प्रेमभाव वा वात्सल्य रखनेवाले महात्माको ठग समझ रक्खा था। इस महाभाग्यने मेरे नेत्रोंमें अंजन डालकर मेरी बुरी दृष्टिको दूर कर दी है और इस जलको पिलाकर मेरे हृदयमें उत्कृष्ट स्वस्थता उत्पन्न कर दी है अर्थात् मुझे निराकुल—सुखी कर दिया है। अतएव यह मेरा बड़ा भारी उपकारी है। भला मैंने इसका क्या उपकार किया है? महानुभावताको छोड़कर इसका प्रवर्तक कोई दूसरा भाव नहीं है। अर्थात् इसने अपनी सज्जनताके कारण ही मेरी भलाई की है।" निष्पुण्यक ऐसा विचार करता था, तो भी उस भिक्षाके बुरे भोजनमें उसकी जो अत्यन्त प्रीति थी, वह किसी प्रकारसे नहीं हटी। क्योंकि उसका चित्त उस भोजनकी ही गाढ़ी भावनामें लवलीन हो रहा था।

तदनन्तर निष्पुण्यकको उस ठीकरेके भोजनकी ओर ही वारवार दृष्टि डालते देखकर और उसका अभिप्राय जानकर धर्मबोधकरने कहा, "अरे दुर्बुद्धि भिक्षुक। क्या तू यही नहीं जानता है कि, तुझे यह कन्या परमान्नका (खीरका) भोजन देना चाहती है? अपने घिनौने भोजनकी लोलुपताके कारण तू यह मेरा दिलाया हुआ अमृतके समान भोजन भी निराकुलतासे नहीं लेता है, इससे मैंने अच्छी तरहसे निश्चय कर लिया है कि, यद्यपि इस नगरमें और भी बहुतसे पापी भिखारी है, परन्तु तेरे समान अभागा और कोई नहीं है। हमारे इस राजमहलके बाहिर बहुतसे दुखी जीव रहते हैं, परन्तु उन-पर हमारा आदरभाव नहीं है। क्योंकि उनकी ओर हमारे राजाने कभी नहीं देखा है। इस राजभवनको देखकर तेरे हृदयमें कुछ आनन्द उत्पन्न हुआ है, इससे जान पड़ता है कि तुझपर राजाकी दया हुई है। और ऐसा न्याय है कि, "**प्रिये प्रियं सदा कुर्युः स्वामिनः सेवका इति।**" अर्थात् "जो स्वामीका प्यारा हो, उसपर सेवकोंको भी प्यार करना चाहिये।" सो उसकी पालना करनेके लिये हम तुझपर दयालु हुए है। हमारा यह राजा 'अमूढलक्ष्य' है अर्थात् इसकी जांचमें कभी अन्तर नहीं पड़ता है। इसका लक्ष्य उसीपर जाता है, जो योग्य होता है। इसलिये यह अपनी बुद्धि अपात्रकी ओर कभी नहीं करता है, इसका हमको पूरा विश्वास है। परन्तु हमारे इस विश्वासको आज तू असत्य कर रहा है। जरासे घिनौने भोजनमें चित्तको उलझाकर कह तो सही कि, तू इस मीठे स्वादवाले और सारी व्याधियोंके नाश करनेवाले भोजनको क्यों नहीं ग्रहण करता है? अब हे दुर्बुद्धि! तू इस बुरे भोजनको छोड़ दे और इस खीरको प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर। इसके प्रसादसे देख इस राजमहलके सब जीव कैसे आनन्दित हो रहे हैं।"

इस उपदेशसे दरिद्रीको विश्वास तो हो गया और निश्चय भी हो गया। परन्तु उस कुत्सित भोजनके त्याग करनेकी बातसे दीन पड़के वह **धर्मबोधकर**से इस प्रकार कहने लगा कि,– "हे नाथ! आपने जो कुछ कहा, वह मुझे सच मालूम होता है। परन्तु मै एक बात कहता हूं, उसे सुन लीजिये। यह जो मेरे ठीकरेमें भोजन रक्खा हुआ है, वह स्वभावसे ही मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारा जान पड़ता है। इसे मैने बड़े भारी क्लेशसे उपार्जन किया है और समय पड़नेपर इससे मेरा निर्वाह होना भी संभव है। इसके सिवाय आपका यह परमान्न मेरे लिये कैसा होगा, यह भी मैं नहीं जानता हूं। इसलिये हे स्वामी! मै इस भोजनको किसी भी प्रकारसे नहीं छोड़ सकता हूं। सो यदि आपकी इच्छा देनेकी हो, तो मेरे भोजनको मेरे पास रहने दीजिये और अपना भोजन दे दीजिये।"

धर्मबोधकर उसका यह अभिप्राय सुनकर मनमें विचारने लगा,– "देखो अचिन्तनीय सामर्थ्यके धारण करनेवाले महा मोहकी चेष्टा कैसी विलक्षण है, जो यह दरिद्री अज्ञानतासे सारी व्याधियोंके करनेवाले अपने घिनौने भोजनमें लवलीन हो रहा है और उसके साम्हने मेरे इस परमान्नको तृणके समान भी नहीं समझता है। तो भी इस बेचारेको एक बार फिर भी कुछ शिक्षा देता हूं। यदि-समझानेसे मोह विलाय जायगा–अज्ञान नष्ट हो जायगा, तो इसके लिये बहुत अच्छा होगा।" ऐसा समझकर उस धर्मबोधकरने कहा,– "हे भद्र! क्या तू यह नहीं जानता है कि, तेरे शरीरमें जितने रोग है, वे सब इस कुत्सित भोजनके कारणसे है? और सब जीवोंको भी इस खराब भोजनके भक्षण करनेहीसे सब प्रकारके दोषोंका प्रकोप होता है। इसलिये जिनकी बुद्धि निर्मल है, उन सबहीको

ऐसे भोजनका त्याग कर देना चाहिये। और जो तू इस भोजनको अच्छा जानता है, सो तेरे अन्तःकरणमें विपर्यास अर्थात् मिथ्यात्व भाव है, इस कारण जानता है। परन्तु यदि तू वास्तवमें मेरे भोजनका स्वाद जान जायगा, तो रोकते हुए भी तू स्वयमेव अपने कुभोजनको छोड देगा। क्योंकि–"**को नामामृतमास्वाद्य विषमापातुमिच्छति।**" अर्थात् ऐसा कौन है, जो अमृतका आस्वादन करके फिर विषके पीनेकी इच्छा करता हो? इसके सिवाय क्या तू मेरे अंजनकी शक्तिको और जलके माहात्म्यको नहीं देख चुका है, जो मेरे इस परमान्नसम्बन्धी वचनोंको नहीं मानता है। और हे सौम्य! जो तू यह कहता है कि, मैंने बडे क्लेशसे उपार्जन किया है, इसलिये इसे नहीं छोड़ सकता हूं, सो उसके विषयमें भी अब तू मोहको छोड़ करके सुन कि,–तेरा भोजन क्लेशसे उपार्जित हुआ है, वर्तमानमें क्लेशरूप है और भविष्यमें भी क्लेशका करनेवाला है। इसलिये इसे छोड़ देना चाहिये। और जो तू कहता है कि समय पड़नेपर इससे मेरा निर्वाह होना संभव है, सो उसका उत्तर भी विपरीत भावको छोड़कर सुन,–अनन्त दुःखोंको करनेवाला यह कुभोजन यद्यपि समयपर निर्वाह करनेवाला है, परन्तु तेरे जैसे दुखियासे क्या यह सर्वदा स्थिर रह सकता है? अर्थात् क्या तू इसे सदा बनाये रख सकता है? और जो तूने यह कहा कि, "मै नहीं जानता हूं कि, यह तुम्हारा भोजन मेरे लिये कैसा होगा।" सो मै जो कुछ कहता हूं, उसमें विश्वास लाकर सुन,–"मै तुझे विना कष्टके जितना तू चाहेगा, उतना यह परमान्न निरन्तर दिया करूंगा। इस लिये किसी भी प्रकारकी आकुलता न रखके तू इसे ग्रहण कर। यह भोजन सारी व्याधियोंको जड़से हटा देता है, और संतोष, पुष्टि, बल, कान्ति और वीर्यादिको

भी बढ़ाता है। और अधिक कहनेसे क्या? जिस प्रकार यह राजेन्द्र अजर अमर और सदा आनन्दपूरित होकर रहता है, उसी प्रकारसे तू भी इस भोजनके बलसे अक्षय और आनन्दमय होकर रहेगा। इस लिये हे भद्र! तू आग्रहको त्यागकर सारे रोगोंके करनेवाले अपने इस कुभोजनको छोड़ दे और अतिशय आनन्दकारी इस परम औषधिरूप परमान्नको ग्रहण कर।"

वह बोला, "हे पूज्य! इस कुभोजनके छोड़ते ही मैं इसके स्नेहके विभ्रमसे मर जाऊंगा। इसलिये इसे मेरे पास रहते हुए ही आप अपनी औषधि दे दीजिये।" तब **निष्पुण्यकका** आग्रह जानकर **धर्मबोधकरने** सोचा कि, "इस समय इसके समझानेका और कोई अच्छा उपाय नहीं है, इसलिये इसे अपना कुभोजन लिये रहने दो और यह परमान्नरूप औषधि दे दो। पीछे जब यह इसकी उत्तमता जानेगा, तब स्वयं ही अपनी भीखको छोड़ देगा।" ऐसा जानकर उसने कहा कि, "हे भद्र! अभी तो तू यह परमान्न ले ले और इसका उपयोग कर।" यह सुनकर जब भिखारीने कहा कि, "अच्छा दो," तब **धर्मबोधकरने तद्दया**को इशारा किया और तदनुसार उसने दरिद्रीको वह परमान्न दे दिया, सो उसने वहीं बैठकर तत्काल ही उसे खा लिया।

इसके पीछे उस उत्तम भोजनके उपयोगसे **निष्पुण्यक**की भूख शान्त हो गई और उसके सारे शरीरमें जो अनेक रोग हो रहे थे, वे एक प्रकारसे मिटे जैसे हो गये। इसके सिवाय पहले अंजनसे और जलसे उसे जो सुखकी प्राप्ति हुई थी, वह इस भोजनके करनेसे अनन्तगुणी हो गई। इससे उस दरिद्रीके हृदयमें भक्ति उत्पन्न हुई, और शंकाएं नष्ट हो गईं। प्रसन्न होकर वह उससे बोला,—"मैंने

आपके साथ कोई भी उपकार नहीं किया, तो भी आपने मुझ अभागी और सबसे नीच जीवपर इस प्रकार दया की है। इस लिये अब आपके सिवाय मेरा कोई दूसरा नाथ नहीं है।"

यह सुनकर **धर्मबोधकर** बोला, "हे भद्र! यदि ऐसा है, तो मैं जो कहता हूं, उसे थोड़ी देर बैठके सुन ले और फिर उसके अनुसार आचरण कर।" दरिद्री विश्वास करके उसके पास बैठ गया और तब भलाई करनेकी इच्छासे सुन्दर वचनोंके द्वारा उसके मनको प्रसन्न करता हुआ **धर्मबोधकर** बोला,—"हे भाई! तू कहता है कि, अब मेरा तुम्हारे सिवाय कोई दूसरा नाथ नहीं है, सो ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तेरे तो ये राजराजेश्वर स्वामी हैं। ये भगवान् इस लोकमें भरे हुए सारे चर अचर प्राणियोंके नाथ है। और इस राजभवनमें जो २ प्राणी रहते हैं, उनके तो ये विशेष करके नाथ हैं। जो कल्याणके पात्र अर्थात् भव्यपुरुष इन राजराजेश्वरकी सेवकाई करते है, उनके तीनों भुवनके जीव थोड़े ही दिनमें सेवक हो जाते है। अर्थात् वे भी राजराजेश्वरके समान हो जाते हैं। परन्तु जो अत्यन्त पापी (अभव्य) जीव सुखके पात्र होनेके योग्य नहीं है, वे बेचारे तो इन नरनाथका नाम भी नहीं जानते है। और इन महात्माके राजभवनमें जो 'भाविभद्र' दिखलाई देते हैं, जिन्हें कि '**स्वकर्मविवर**' द्वारपालने भीतर प्रवेश करने दिया है, वे सब राजाको वास्तवमें अच्छी तरहसे जानते हैं। इसमें सन्देह नहीं है। पर जो प्राणी मुग्ध हैं, वे यहां प्रवेश करनेके पीछे मेरे कहने पर राजाको विशेषतासे जानते हैं। अतएव हे भद्र! जबसे तूने सुपुण्यके कारण इस राजभवनमें प्रवेश किया है, तबसे तो ये नरेन्द्र तेरे नाथ हुए ही हैं। अब केवल मेरे वचनसे तू यावज्जीव शुद्ध मन-

से इन्हें नाथबुद्धिसे अच्छी तरहसे पहिचान। और फिर ज्यों २ तू इन महाराजकी गुणरूप औषधियोंका अधिक सेवन करेगा, त्यों २ तेरे शरीरके सब रोग कम होते जावेंगे। इन तीनों औषधियोंका वारंवार सेवन करना ही सारे रोगोके हलके करनेका और अन्तमें नाश करनेका एक उपाय है। इसलिये हे सौम्य! किसी भी प्रकारका संशय न रखके मेरी इन तीनों औषधियोंका वारंवार विधिपूर्वक सेवन करता हुआ आनन्दसे इस राजभवनमें रह। इससे तेरे सारे रोग नष्ट हो जावेंगे और फिर तू राजराजेश्वरका भलीभाति आराधन करनेसे स्वयं श्रेष्ठ राजा हो जावेगा। यह '**तद्दया**' तुझे प्रतिदिन तीनों औषधिया दिया करेगी। अब इस विषयमें और अधिक क्या कहूं? सारांश कहनेका यही है कि तुझे इन तीनों औषधियोंका निरन्तर सेवन करना चाहिये।"

धर्मबोधकरके इस प्रकार कोमल वचन सुनकर **निष्पुण्यक** अपने मनमें प्रसन्न हुआ और अपने अभिप्रायोंको स्थिर करके बोला— "महाशय! अब भी मै पापात्मा अपने इस कुभोजनको नही छोड़ सकता हूं, इस लिये इसके छोड़नेके सिवाय और जो कुछ मेरे करने योग्य हो उसे कहिये"।

यह सुनकर **धर्मबोधकर**के चित्तमें यह बात आई कि, "जब मै इससे केवल तीन औषधियोंके सेवनकी बात कहता हूं, तब फिर यह इस प्रकार कुछका कुछ क्यों बोलता है? मैं इससे इस अन्नके छोड़नेकी बात तो कहता ही नहीं हूं। हां! अब मालूम हुआ। यह अपनी तुच्छता (ओछाई) के कारण मनमें ऐसा विचार रहा है कि, इन्होंने जो कुछ कहा है, वह सब मेरे भोजनके छुडानेके लिये कहा है। क्योंकि,—

क्लिष्टचित्तो जगत्सर्वं मन्यते दुष्टमानसम् ।
शुद्धाभिसन्धयः सर्वं शुद्धचित्तं विजानते ॥ २९० ॥

अर्थात् " जिनका चित्त मलीन रहता है, वे सारे संसारको दुष्ट-चित्त मानते है और जिनके अभिप्राय शुद्ध होते हैं–निर्मल होते हैं, वे सारे जगतको शुद्धचित्त समझते हैं।"

इस प्रकार विचार करके उसने हंसकर कर कहा, "हे भद्र ! तू कुछ भी भय मत कर। अभी मैं तुझसे इस कुभोजनके छोड़नेके लिये नहीं कहता हू । इसे तू निराकुल होकर भोगा कर । पहले मैं जो तुझसे यह कुभोजन छुड़वाता था, सो केवल तेरा भला करनेकी बुद्धिसे छुड़वाता था। परन्तु यदि तुझे छोड़नेकी बात नहीं रुचती है, तो इस विषयमें मेरा चुप रहना ही ठीक है । पर यह तो कह कि, मैने जो तुझे पहिले करने योग्य बातोंका उपदेश दिया था, सो तूने थोड़ा बहुत धारण किया या नहीं ?"

निष्पुण्यक बोला,–"नाथ ! आपने जो कुछ कहा था, वह तो मैने जरा भी नहीं सुना है—उसपर मेरा ध्यान ही नहीं था। मैं तो केवल आपके कोमल वार्तालापसे चित्तमें प्रसन्न हुआ हूं । क्यों कि,—

अज्ञातपरमार्थापि सतां नूनं सरस्वती
चेतोऽतिसुन्दरत्वेन प्रीणयत्येव देहिनाम् ॥ २९५ ॥

अर्थात्–सज्जन पुरुषोंकी वाणीका वास्तविक अर्थ (परमार्थ) भले ही समझमें न आवै, परंतु वह अपनी अतिशय सुन्दरताके कारण प्राणियोंका चित्त प्रसन्न करती ही है । जिस समय आप उपदेश देते थे, उस समय नेत्र तो मेरे आपके सम्मुख थे, परंतु चित्त कहीं अन्यत्र ही था । इस लिये आपके वचन मेरे एक कानमेंसे प्रवेश करते थे और दूसरे कानमेंसे निकल जाते थे। अब मैं निराकुल

हूं, किसी भी प्रकारका भय नहीं रहा है। इसलिये अपने चित्तकी उस चंचलताका कारण कहता हूं,—

जिस समय दया करनेमें तत्पर रहनेवाले आपने मुझे भोजन देनेके लिये बुलाया था, उस समय मेरे हृदयमें यह शंका थी कि, यह मनुष्य मुझे किसी स्थानमें ले जाकर मेरे इस भिक्षाभोजनको छीन लेगा। इस अभिप्रायके वश अतिशय ध्यान करनेसे मै चेतना-हीन हो गया। पश्चात् प्रीति करनेवाले आपने जब मुझे अंजन लगाकर सचेत किया, तब मैंने सोचा कि, यहांसे शीघ्र ही भाग जाऊं। परंतु जब आपने अपना अपूर्व पानी पिला कर मेरा शरीर शीतल किया और सुन्दर वार्तालाप किया, तब आपपर विश्वास आ गया। मैने सोचा कि, जब ये मेरे ऐसे उपकारी हैं, और बड़ी भारी विभूतिवाले हैं—धनी हैं, तब मेरा भोजन छीननेवाले कैसे हो सकते है? इसके पीछे जब स्वामीने (आपने) कहा कि, "इसे छोड़ दो और इस भोजनको ग्रहण करो।" तब इस चिन्तासे कि "अब मैं क्या करूं" मेरा चित्त आकुल व्याकुल हो गया। मैं सोचने लगा कि, मेरा भोजन यह स्वयं तो नहीं लेता है, केवल छुड़वाता है। परन्तु मै इसे छोड़ भी तो नहीं सकता हूं। तब इसे क्या उत्तर दूं? अन्तमें मैने कहा कि, मेरा भोजन तो मेरे पास रहने दीजिये और आप जो देना चाहते हैं, वह दे दीजिये। पश्चात् आपने जब मुझे 'परमान्नभोजन' दिलाया, तब उसके आस्वादसे मुझे और भी विश्वास हो गया कि, आप मुझपर अत्यन्त प्रीति रखते हैं। इसके उपरान्त मैने सोचा, तो क्या इस महात्माके वचन मानकर मै अपना भोजन छोड़ दूं? नहीं! जो मैं इसे छोड़ दूंगा, तो इसपर जो मेरी ममता है उसके कारण मैं व्याकुलचित्त होकर मर जाऊंगा। यद्यपि यह जो कहता है,

वह वास्तवमें ठीक है, परन्तु मेरी शक्ति नहीं है कि, मैं अपने भोजनको छोड़ दूं। हाय! मुझपर यह कैसा दुस्तर दुःख आके पड़ा है! इस प्रकार नाना प्रकारके विचारोंकी व्याकुलतामें पड़े रहनेसे हे नाथ! आपने अभीतक जो कुछ कहा, वह सब भरे हुए घडेमें और पानी डालनेके समान चारों ओरसे बह गया। मेरे मनकी बात जानकर अब जब आपने यह कहा है कि मैं तुझसे भोजन छोड़नेके लिये नहीं कहता हूं, तब मुझे थोड़ीसी निराकुलता मालूम हुई है। इस लिये हे नाथ! अब ऐसे नीचचित्तवाले मुझ पापीको क्या करना चाहिये, सो बतलाइये, जिससे मैं उसे धारण करूं।"

यह सुनकर दयावान् **धर्मबोधकर**ने पहले जो बातें संक्षेपसे कहीं थीं, उन्हींको फिर खूब विस्तारके साथ समझा दीं। और उसे अंजनके, जलके, अन्नके और विशेष करके राजाके गुणोंसे प्रायः अजान समझकर यह कहा कि, हे भाई! राजाने मुझे पहले आज्ञा दी थी कि, मेरी ये तीनों औषधियां तुम योग्य पात्रको ही देना, अपात्रको नहीं। क्योंकि अपात्रको देनेसे इनसे कुछ भी उपकार नहीं होगा—उलटा अनर्थ ही घटनेकी संभावना है। उस समय राजासे मैंने पूछा था कि, मैं यह कैसे जान सकूंगा कि पात्र कौन है और अपात्र कौन है? तब राजाने कहा था कि, "मैं उनके लक्षण कहता हूं,—जब तक कोई रोगी योग्यताको प्राप्त नहीं होता, तबतक उसे **'स्वकर्मविवर'** द्वारपाल इस राजभवनमें नहीं आने देता है। हमने उसे आज्ञा भी दे रक्खी है कि, तू उन्हीं मनुष्योंको यहां आने देना; जो इन तीनों औषधियोंके ग्रहण करनेके योग्य हों, दूसरोंको नहीं। यदि कभी कोई अयोग्य पुरुष भी यहां आ जावें, तो वे हमारा राजमन्दिर देखके प्रसन्न नहीं होंगे और हमारी दृष्टि भी विशेषतासे उनका निरीक्षण नहीं

करेगी। इसलिये उन्हें किसी द्वारपालने किसी तरह भीतर चला आने दिया है, ऐसा समझना चाहिये और ऐसे प्राणियोंको दूसरे चिन्होंसे पहिचानकर तुम्हें भी प्रयत्न करके रोक देना चाहिये। जो रोगी राजभवनको देखकर प्रसन्न होते है, उनका भविष्यमें कल्याण होनेवाला होता है, इसलिये हम उनकी ओर विशेपतासे देखते है। जिन्हें **स्वकर्मविवर**ने यहां आने दिया हो, उन्हें तुम इन तीनों औषधियोंके पानेके पात्र समझो। वास्तवमें ये तीनों औषधियां ही उन पात्रों और अपात्रोंके लिये कसोटीके समान है, जो कि प्रयोग करनेसे अपने गुणोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य और नहीं ग्रहण करने योग्यकी जांच कर देती है। जिन रोगियोंको ये औषधियां पहले तो रुचें और फिर पीछे किसी प्रकारके कष्टके विना प्रयोग करनेसे गुण करें, उन्हें **सुसाध्य** रोगी समझना चाहिये। जो आदिमें तो ग्रहण नहीं करें, परन्तु पीछे कालक्षेप करके बलपूर्वक इन औषधियोंका सेवन करें, उन्हें पीछे सुधरनेवाले **कष्टसाध्य** समझना चाहिये। और जिन्हें ये औषधियां बिलकुल न रुचें, प्रयोग करनेपर भी जो कुछ असर न करें तथा औषधि देनेवालेपर उलटा द्वेष करने लगें, उन नीच पुरुषोंको समझना चाहिये कि, सर्वथा **असाध्य** है।"

इस प्रकारसे राजराजेन्द्र **सुस्थित** महाराजने मुझे जो कुछ समझाया था, उसके अनुसार लक्षण मिलानेसे तू मुझे 'कष्टसाध्य' जान पड़ता है। इस संसारमें जो प्राणी शंकारहित होकर जबतक जीते हैं तब तक इस नरेन्द्रको विशेषतासे अपना स्वामी जानते है, उन्हें ही इन औषधियोंका प्रयोग जो कि अचिन्तनीय पराक्रमोंसे परिपूर्ण और सम्पूर्ण रोगोंका नाश करनेवाला है, गुणकारी होता है। इसलिये तू इस श्रेष्ठ राजाको अपना स्वामी समझ। क्योंकि "**भावसारं महात्मानो**

भक्तिग्राह्या यतः स्मृताः" महात्मा पुरुष भावपूर्वक भक्तिसे ही ग्राह्य होते हैं। अर्थात् उत्तम परिणामोंसे सेवा करनेसे ही महात्मा प्रसन्न होते हैं। हे भाई! पहले भी रोगपीड़ित अनन्त प्राणी इस राजेश्वरको स्वामीभावसे स्वीकार करके प्रसन्न और कृतकृत्य हो चुके है। तेरे रोग बहुत बलवान् है, साथ ही तेरा मन अपथ्य सेवन करनेमें भी बहुत आसक्त रहता है; इससे विना बड़ भारी यत्नके तेरे रोगोंका नाश हो जाना समझमें नहीं आता है। अतएव हे वत्स! प्रयत्नशील होकर अपने मनको निश्चल करके तू इसी विस्तृत राज-मन्दिरमें निराकुलतासे रह और इस कन्याके हाथसे बांटी हुई ये तीनों औषधियां क्षण क्षणमें ग्रहण करके अपनेको निरोगी कर।

इसके पश्चात् **निष्पुण्यकने** "स्वीकार है" ऐसा कहकर **धर्म-बोधकरके** वचन अंगीकार किये और उसने भी **तद्दयाको** उसकी परिचारिका बना दी। तब **निष्पुण्यकने** अपने भिक्षापात्रको एक ओर रख दिया और उसकी रखवाली करते हुए वह कुछ समय तक वहीं रहा।

तद्दया वे तीनों औषधियां उसे निरन्तर देती थी, परन्तु वह अपने कुभोजनकी ममताके कारण उन औषधियोंका बिलकुल ही आदर नहीं करता था। अर्थात् उन औषधियोंपर उसका प्रेम नहीं था। इसके सिवाय मोहके कारण वह अपना कुभोजन बहुतसा खा लेता था, जिससे **तद्दयाका** दिया हुआ भोजन वह केवल उपदं-शके समान (चाट सरीखा) सेवन करता था। अभिप्राय यह है कि जिस तरह मद्यपान करनेवाले मद्य पीकर ऊपरसे कुछ थोड़ी सी चाट खाते है, उसी प्रकारसे अपना कुभोजन कर चुकनेपर वह 'महा-कल्याणक' को केवल चाटके समान खाता था—अधिक नहीं खाता था। उसका दिया हुआ अंजन भी वह कभी २ ही नेत्रोंमें आंजता था—

हररोज नहीं। और तीर्थका जल तो जब वह कहती थी, तब ही पीता था। इसके सिवाय तद्दया जो प्रसन्नतासे बहुतसा महाकल्याणक भोजन दे देती थी, उसमेंसे वह थोड़ासा तो खा लेता था और बाकी अपने ठीकरेमें डाल देता था। इससे यद्यपि वह अपने कुभोजनको निरन्तर खाता था, तथापि महाकल्याणकके सान्निध्यसे अर्थात् उसके निरन्तर पड़ते रहनेसे वह कुभोजन कभी समाप्त नहीं होता था। अपने कुभोजनकी इस प्रकार बढ़ती देखकर **निष्पुण्यक** बहुत ही संतुष्ट होता था, परन्तु जिसके माहात्म्यसे वह कदन्न बढ़ता था, उसे नहीं जानता था। उसमें और और अधिक लोलुप होता हुआ उक्त तीनों औषधियोंको प्रेमसे सेवन करनेमें शिथिल होता जाता था। उनके गुण जाननेपर भी नहीं जाननेवालेके समान अपने कुभोजनमें मोहित होकर कालक्षेप करता था। इस तरह प्रतिदिन भरपेट अपथ्य सेवन करनेसे और उक्त तीनों औषधियोंका अनादरपूर्वक आस्वाद करनेसे उस दरिद्रीके विशेष रोग तो नष्ट नहीं हुए, किन्तु उस उतने ही उत्तम भोजनके प्रयोगने जिसे कि वह अवज्ञापूर्वक करता था, बड़ा भारी गुण किया। अर्थात् उसके रोग क्षीण हो गये। तथापि आत्मज्ञानके अभावसे, उच्छृंखलतासे और अपथ्य सेवनसे वे रोग अपना विकार कभी २ उसके शरीरपर प्रगट किये विना नहीं रहते थे। कभी शूल, कभी दाह, कभी मूर्च्छा, कभी ज्वर, कभी वमन, कभी जडता (शरीरशून्यता), कभी हृदय और पसलियोंमें पीड़ा, कभी उन्मादका दुःख, और कभी पथ्यभोजनमें अरुचि आदि नाना प्रकारके विकारोंवाले रोग उत्पन्न होते थे।

एकवार दयावती तद्दयाने उसे ऊपर कहे हुए विकारोंसे दुखी और रोते हुए देख विचार करके कहा कि "हे भाई! तुझसे मेरे

पिताने तो पहले ही कहा था कि तेरे शरीरमें जो सब प्रकारके रोग हैं, वे तेरे इस बहुत प्यारे भोजनके कारणसे ही हैं। मैं तेरा सब वृत्तांत देखती हूं परन्तु तोभी तुझे कहीं आकुलता न हो जावे, इस लिये उस कुभोजनको भक्षण करते हुए देखकर भी नहीं रोकती हूं। इन परमस्वास्थ्यकारी तीनों औषधियोंके सेवनमें तो तू शिथिल रहता है और सारे दु:खोंका करनेवाला यह कुभोजन तुझे रुचता है। इस तरह अपने आप ही तो तू कष्टमें पड़ता है और फिर रोता है। परन्तु अब तुझे नीरोग करनेका कोई उपाय नहीं है। क्यों कि **"अपथ्येऽत्यर्थं सक्तानां न लगत्येव भेषजम्"** अर्थात् जो रोगी अपथ्य पदार्थोंके सेवन करनेमें अतिशय आसक्त रहता है, उसे औषधि लगती ही नहीं है। मै तेरी परिचारिका हूं, इसलिये तेरे रोगी रहनेमें मेरी भी अपकीर्ति होती है। परन्तु क्या करूं? अब मैं तुझे सदा नीरोग नहीं रख सकती हूं।"

यह सुनकर **निष्पुण्यक** बोला, "यदि ऐसा है, तो अबसे तुम मुझे कुभोजन करते समय निरन्तर निवारण कर दिया करो। क्योंकि अतिशय लालसाके कारण स्वयं तो मै इसे छोड नहीं सकता हूं, परन्तु थोड़ा थोड़ा छोड़ते रहनेसे कदाचित् तुम्हारे प्रभावसे इस सारे कुभोजनको भी छोड़नेकी शक्ति मुझमें हो जायगी।"

तद्दया बोली,—"अच्छा है! अच्छा है! हे भद्र! तुम सरीखे प्राणियोंको ऐसा कहना ही उचित है।" यह कह कर फिर वह उसे अधिक कुभोजन करनेसे रोकने लगी और ऐसा करनेसे अर्थात् अधिक कुभोजनके न करनेसे उसके सारे रोग क्षीण होने लगे और शरीरमें औषधियोंके असर होनेसे रोगोंकी पीड़ा भी अधिक नहीं रही। परन्तु **तद्दया** जब उसके पास रहती थी, तभी वह पथ्यसे रहता था और अपथ्य

थोड़ा खाता था। इससे उसके रोग भी हलके हो जाते थे। पर ज्यों ही वह उसे छोड़कर दूर चली जाती थी, त्यों ही वह लम्पटतासे अपना कुभोजन खूब खाने लगता था और औषधिसेवन भी नहीं करता था। इससे अजीर्णसे फिर दुखी होने लगता था।

इधर **धर्मबोधकरने तद्दया**को पहलेहीसे सम्पूर्ण लोककी रक्षा करनेके लिये नियुक्त कर रक्खी थी। इसलिये अनन्त प्राणियोंकी रक्षा करनेके काममें लगे रहनेसे वह उस दरिद्रीके पास कभी २ आ सकती थी। बाकी समयमें वह स्वतंत्र रहता था,—कोई रोकता नहीं था, इससे वह वारंवार रोगके विकारोंसे पीड़ित होता था और उसे वे भय उन्माद आदि फिरसे हो जाते थे।

एकवार **धर्मबोधकरने निष्पुण्यक**को इस प्रकार दुखी देखकर पूछा,—"हे भाई! यह क्या है?" तब उसने अपना सब वृत्तान्त निवेदन किया और कहा,—"स्वामी! तद्दया मेरे पास हमेशा नही रहती है और उसके न रहनेसे मेरे रोग विशेषतासे प्रगट हो जाते हैं। इसलिये हे नाथ! आप कोई ऐसा अच्छा उपाय कर देवें, जिससे स्वप्नमें भी मेरे शरीरमें पीड़ा उत्पन्न न हो।" **धर्मबोधकर** बोला—"हे वत्स! तुझे जो कुछ पीड़ा होती है, वह अपथ्यसेवनसे होती है। और यह **तद्दया** जो तुझे अपथ्यसेवन करनेसे रोकती है, दूसरे कार्योंमें नियुक्त रहनेके कारण व्याकुल रहती है, इससे तुझे निरन्तर नही रोक सकती है। अस्तु, अब जो अपथ्यसेवन करनेसे तुझे सदा रोकती रहै, ऐसी कोई उत्तम परिचारिका मै तेरे लिये नियुक्त कर देता हूं। परन्तु तू अनात्मज्ञ है अर्थात् अपने आत्माको और उसके हितको नहीं जानता है, इस कारण पथ्यसेवनसे पराङ्मुख और कदन्नभक्षण करनेके लिये उद्यत रहता है। इसलिये बतला अब मैं तेरा

क्या करूं ?" दरिद्री बोला,-"हे नाथ! ऐसा मत कहो। अब मैं आगे आपकी आज्ञाका कभी उलंघन नहीं करूंगा।" यह सुनकर और थोड़ासा विचार करके उसका हित करनेमें उद्यत रहनेवाले धर्मबोध-करने तत्काल ही कहा,--"अच्छा तो मेरी आज्ञानुसारिणी एक **सद्बुद्धिनाम**की स्त्री है। वह आकुलतासे रहित है, सो उसे मैं तेरी विशेष परिचारिका बनाता हूं। मेरी नियत की हुई वह परिचारिका तेरे पास निरन्तर रहकर पथ्यापथ्यका विवेचन किया करेगी। मैंने उसे तेरे ही लिये दी है। सो अब तू अपने चित्तमें दुखी नहीं होना। परन्तु वह केवल विशेषज्ञा ही ह अर्थात् हिताहितका विचार ही कराती है। विपरीत चलनेवाले और अनादर करनेवाले पुरुषोंका उससे उपकार नहीं होता है। इसलिये यदि तुझे सुख पानेकी इच्छा है और दुखसे यदि तू डरता है तो वह जो कुछ कहेगी, उसे तुझे करना ही होगा। और मेरा भी यही कहना है कि, उसकी आज्ञानुसार चलना। क्योंकि जो उसे नहीं रुचता है, वह मुझे भी रुचिकर नहीं होता है। इसके सिवाय हे भद्र! यद्यपि तद्या अनेक कामोंमें व्याकुल रहती है, तो भी तेरे पास बीच २ में आया करेगी और तुझे और भी जागृत कर जाया करेगी। यह परमार्थकी बात मै केवल तेरा हित करनेकी इच्छासे कहता हूं कि,-यदि तू सुख चाहता है तो तुझे सद्बुद्धिके विषयमें निरन्तर यत्न करना चाहिये। अर्थात् उसके अनुकूल चलकर उसे प्रसन्न रखना चाहिये। जो मूर्ख सद्बुद्धिका भले प्रकार आराधन करके उसे प्रसन्न नहीं करते हैं, उनपर न तो राजराजेश्वर प्रसन्न होते है, न मैं प्रसन्न होता हूं, और न अन्य कोई प्रसन्न होते है। जिनपर उसकी अप्रसन्नता होती है, वे सदा ही दुःखोंके पात्र बने रहते हैं। क्योंकि

संसारमें सुख पानेका इसके सिवाय और कोई दूसरा कारण ही नहीं है। इसके सिवाय वह तेरे स्वाधीन रहती है—समीप रहती है, हम सरीखे तो सब दूर रहनेवाले हैं—तुझे वही सुखकी कारण है। इसलिये अपने सुखके लिये तुझे उसीका आराधन करना चाहिये।"

दरिद्रीके स्वीकार करनेपर **धर्मबोधकरने सद्बुद्धिको** उसकी परिचारिका बना दी और तबसे वह उसके विषयमें निश्चिन्त हो गया।

सद्बुद्धि जितने दिन **निष्पुण्यकके** पास रही, उतने दिनोंमें जो कुछ घटनाएं हुई, वे यहां कही जाती हैः—

पहले तो वह अतिशय लोलुपताके कारण अपने कदन्नको खाता हुआ भी तृप्त नहीं होता था, परन्तु अब खाता है, पर बहुत नहीं खाता है और यह चिन्ता भी नहीं करता है कि, उसे कोई ले जायगा। पहलेका अभ्यास होनेके कारण यदि कभी कदन्नको खाता भी है, तो केवल तृप्तिके लिये खाता है और विशेष आसक्ति नहीं रहनेके कारण उसका स्वास्थ्य भी वह (कदन्न) नहीं बिगाड़ता है। पहले बड़े भारी आग्रहसे अर्थात् कहने सुननेसे वह उक्त तीन औषधियोंको ग्रहण करता था, परन्तु अब उसकी अभिलाषा उनके ग्रहण करनेमें स्वयं बलपूर्वक बढ़ती है। इस प्रकार अहित वस्तुओंमें ग्रहण न करनेके भावसे और हितरूप वस्तुओंमें जी लगानेसे उस समय उसकी जो दशा हुई, उसे कहते हैं,—वे रोग जो हलके हो गये थे, अब शरीरको पीड़ा नहीं पहुंचाते हैं और यदि कहीं कुछ पीड़ा होती है, तो वह भी शीघ्र दूर हो जाती है। अब उसने सुखके स्वादको जान लिया है, उसका जो घिनौना स्वरूप था, वह नष्ट होगया है और निराकुल होनेसे उसके चित्तमें बहुत बड़ा संतोष हुआ है।

एक दिन **निष्पुण्यक** एकान्तमें निराकुलतासे बैठा हुआ था। उस समय वह अतिशय प्रसन्नतासे **सद्बुद्धिके** साथ बातचीत करने लगा

किः—"हे भद्रे! यह मेरा शरीर आश्चर्यकारी क्यों हो गया है? यह पहले तो दुःखोंकी खानि हो रहा था और अब सुखोंकी खानि हो गया है।"

सद्बुद्धिने कहा—"यह सब तेरे भलीभाँति पथ्य सेवन करनेसे और सब प्रकारके दोषोंके मूलभूत अहितकारी भोजनकी लोलुपता छोड़ देनेसे हुआ है। हे भद्र! पहलेके अभ्याससे तू अपने कदन्नको खाता है, तो भी मेरे पास रहनेके कारण तेरे चित्तमें इस कार्यसे बहुत ही लज्जा होती है, और लज्जाके कारण उसका संभोग (खाना) अकार्यरूप हो जाता है। अर्थात् उस कदन्न भक्षणका तेरे शरीरपर कुछ असर नहीं होता है। इसके सिवाय अधीन होनेके कारण स्वेच्छाचारकी भी निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् अधीनतासे तू अपनी इच्छानुसार नहीं खा पी सकता है। इन सब कारणोंसे खाया हुआ भी कदन्न तेरे शरीरमें रोगकी बहुत वृद्धि नहीं कर सकता है। और इसीसे तुझे आनन्दानुभवन करानेवाला सुख हुआ है।"

दरिद्रीने कहाः—"यदि ऐसा है, तो मैं इस कदन्नको सर्वथा छोड़ देता हूं, जिससे कि मुझे उत्तम सुखकी प्राप्ति हो।"

सद्बुद्धि बोलीः—"यह तो योग्य ही है। परन्तु इसे अच्छी तरहसे विचार करके छोड़ना, जिससे कि ममताके कारण तुझे पहलेके समान फिर आकुलता न हो जाय। यदि तूने त्याग कर दिया और फिर भी इसमें तेरा मोह बना रहा, तो इससे तो नहीं त्यागना ही अच्छा है। क्योंकि इस कदन्नमें मोह करना ही रोगोंका बढ़ानेवाला है। बल्कि ऐसा करनेसे अर्थात् त्याग करके फिर उसमें ममता रखनेसे—थोड़ा कदन्न खाते रहने और उसके साथ तीनों औषधियोंका सेवन करते रहनेसे वर्तमानमें जो रोगोंकी क्षीणता हुई है, वह भी अति-

शय दुर्लभ हो जायगी अर्थात् वह क्षीणता भी नहीं रहेगी। क्योंकि कदन्नका एक बार सर्वथा त्याग करके जो जीव फिर भी उसकी इच्छा करते है, वे महामोहके दोषसे रोगोंकी लघुता वा क्षीणताको भी नहीं प्राप्त कर सकते है। इसलिये उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि अच्छी तरहसे विचार करके यदि चित्तमें जंचै, तो इसका सर्वथा त्याग करै।"

सद्बुद्धिके ये वचन सुनकर **निष्पुण्यक**का मन कुछ डोलने लगा। और अब मै क्या करूं, इसका वह कुछ भी निश्चय नहीं कर सका।

एक दिन दरिद्रीने बहुतसे 'महाकल्याणक भोजन' को खूब खा करके पीछे लीलासे थोड़ासा अपना कदन्न भी खाया। तब उत्तम भोजनके करनेसे जो तृप्ति होती है, उसके कारण, तथा सद्बुद्धिके समीप रहनेके कारण, और उसमें जो उत्तम गुण थे उनके कारण, उसके चित्तमें उस समय इस प्रकारका विचार हुआ कि, "अहो! यह मेरा भोजन तो कुथित (सड़ा हुआ), अतिशय लज्जा उत्पन्न करनेवाला, मैला, घिनौना, विरस (चलितरस), निन्दनीय, और सब दोषोंका पात्र है। ऐसा बुरा है, तो भी इस परसे मेरी ममता दूर नहीं होती है। परन्तु मै समझता हूं कि, इसके छोड़े विना मुझे आकुलतारहित सुख नही मिल सकता है। यह यदि छोड़ दिया और कहीं पहलेकी लोलुपतासे इसका स्मरण हो आया, तो **सद्बुद्धिने** उस स्मृतिको भी दुखकी करनेवाली बतलाई है। और नहीं छोड़ता हूं, तो साक्षात् दु:खसागरमें हमेशा पड़े रहना पड़ेगा। इससे अब मै क्या करूं? हाय मै पापी और सत्वरहित हूं। अथवा अब इन मोहसे उत्पन्न हुए संकल्प विकल्पोंके करनेसे क्या? अब तो इसे सर्वथा ही छोड़ दूं। जो होना होगा, सो होगा। अथवा इसमें होना

ही क्या है ? मुझे इस कुभोजनकी स्मृति भी नहीं होगी। क्योंकि–**को नाम राज्यमासाद्य स्मरेच्चाण्डालरूपताम्**। अर्थात् एक बड़े भारी राज्यको पाकर अपनी पूर्वकी चांडालरूप अवस्थाका कौन स्मरण करता है?" इस प्रकार निश्चय करके उसने सद्बुद्धिसे कहा, "हे भद्रे! यह मेरा भिक्षाका पात्र ले लो और इसमें जो सब कदन्न रक्खा है, उसे दूर करके इसका क्षालन कर दो–धोकर साफ कर दो।"

सद्बुद्धिने कहा:—"हे भाई ! इस विषयमें तुझे **धर्मबोधकर**से भी पूछ लेना चाहिये। क्योंकि **काले न विक्रियां याति सम्यगालोच्य यत्कृतम्**। अर्थात् जो काम भली भांति विचार करके किया जाता है, वह समय पड़नेपर विक्रियाको प्राप्त नहीं होता है–कुछका कुछ नहीं हो जाता है।"

तब **निष्पुण्यक**ने **सद्बुद्धि**के साथ ही **धर्मबोधकर**के पास जा कर उसे अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। धर्मबोधकरने कहा, "हे भद्र ! तुमने बहुत अच्छा विचार किया ! बहुत अच्छा विचार किया ! परन्तु पहिले इस विषयमें पक्का निश्चय कर लेना चाहिये, जिससे कि पीछे हँसी न होवे।"

दरिद्री बोला,–"हे नाथ। यह आप मुझसे बार बार क्यों कहते हैं ? मेरा यह पक्का ही निश्चय है। क्योंकि उस कुभोजनपर अब मेरा जरा भी मन नहीं जाता है।" उसका यह उत्तर सुनकर चतुर धर्मबोधकरने सब लोगोंके साथ भली भांति विचार करके उसके कुभोजनको छुड़वा दिया और उस भिक्षापात्रको उत्तम जलसे शुद्ध करके फिर उसे महाकल्याणक भोजनसे अच्छी तरह ठांस ठांस कर भर दिया। इसके पश्चात् अतिशय प्रसन्न होनेके कारण धर्मबोधकर उस दिनसे महाकल्याणककी भी वृद्धि करने लगा। अर्थात् उसको अधिक २ देने लगा।

यह देख **धर्मबोधकर** हर्षित हुआ, **तद्दया** आनन्दसे उन्मत्त हो गई, **सद्बुद्धिका** आनन्द बढ़ गया और सारा राजमन्दिर **प्रसन्न** हो गया। उस समय लोगोंमें यह चर्चा होने लगी कि, यह प्राणी जिसे **सुस्थित** महाराजने देखा था, **धर्मबोधकरको** जो प्यारा था, **तद्दया** जिसकी पालना करती थी, **सद्बुद्धि** जिसके पास रहती थी, और जो प्रतिदिन थोड़े थोड़े अपथ्यका त्याग करता था, तीनों औषधियोंका सेवन करनेसे सारे रोगोंसे बहुत करके मुक्त हो गया है। इस लिये अब यह वह **निष्पुण्यक** नहीं, किन्तु महात्मा **सपुण्यक** है। इसके पश्चात् उसी दिनसे उस पहलेके दरिद्रीका नाम सपुण्यक हो गया। यह सब पुण्यकी महिमा है। अन्यथा--

कुतः पुण्यविहीनानां सामग्री भवतीदृशी।
जन्मदारिद्र्यभाग् नैव चक्रवर्तित्वभाजनम् ॥ ४२१ ॥

जो पुरुष पुण्यहीन है, उन्हें ऐसी सामग्री कहांसे मिल सकती है? जो जन्मके दरिद्री है, वे चक्रवर्ती कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते।

इसके पश्चात् **तद्दयाके** सम्बन्धसे **सद्बुद्धि** उस महात्मा **सपुण्यकके** साथ राजमन्दिरमें रहने लगी। अब आगे उसका (सपुण्यकका) क्या हुआ, सो कहते हैः—अपथ्यका (कदन्नका) अभाव हो जानेसे अब उसके शरीरमें प्रगट पीड़ा नहीं होती है और यदि कभी पहलेके दोषसे होती है, तो बहुत कम होती है और थोड़े ही समय रहकर नष्ट हो जाती है। जिसकी इच्छाएं नष्ट हो गई हैं, और जो लोकव्यापारमें शून्य बुद्धिवाला हो गया है, अर्थात् सांसारिक कामोंमें जिसकी बुद्धि नहीं रही है, वह महात्मा **सपुण्यक** अब प्रतिदिन अपने नेत्रोंमें अपने ही हाथोंसे **विमलालोक** अंजन आंजता

है, अश्रान्त चित्तसे **तत्त्वप्रीतिकर** पानी पीता है, और नित्य **महाकल्याण** नामका भोजन करता है। इससे उसके शरीरमें बल, धृति (धीरज), शांति, कान्ति, ओज, प्रसन्नता, और इन्द्रियोंके ज्ञानकी पटुता (विषयग्रहणशक्ति) क्षणक्षणमें निरन्तर बढ़ती जाती है। यद्यपि पहले रोगोंकी सन्तति बहुत अधिक थी, इसलिये अभीतक उसे अच्छी तरहसे निरोगता प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु उसके शरीरमें बड़ी भारी विशेषता दिखलाई देती है, अर्थात् पहलेकी अपेक्षा वह बहुत हृष्ट-पुष्ट तथा प्रफुल्लित जान पड़ता है। पहले जो प्रेत (पिशाच) सरीखा और अतिशय घिनौने रूपवाला था, वही अब मनुष्य सरीखा दिखने लगा है। पहले दरिद्रावस्थामें तुच्छता, नपुंसकता, लोलुपता, शोक, मोह, भ्रम आदि जो २ भाव अभ्यस्त हो रहे थे, वे भी ऊपर कही हुई तीनों औषधियोंके सेवनसे नष्ट सरीखे हो जानेके कारण निरन्तर नहीं रहते हैं और इस कारण वे कुभाव अब उसे जरा भी दुखी नहीं करते है। वह प्रफुल्लितचित्त रहता है।

एकदिन उस अतिशय प्रसन्न आत्मावाले **सपुण्यकने सद्बुद्धिसे** पूछा:—"हे भद्रे! मुझे ये तीन औषधियां किस कर्मके उदयसे प्राप्त हुई हैं?" उसने कहा:—"हे भाई! लोगोंमें ऐसी कहावत प्रचलित है कि जो पदार्थ पूर्वजन्ममें किसीको दिया है, वही इस जन्ममें प्राप्त होता है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि, तुमने भी ये पदार्थ पहले किसीको दिये होंगे।" यह सुनकर उसने विचार किया कि, "यदि दिया हुआ पदार्थ फिर मिलता है, तो मै अब सब कल्याणोंकी करनेवाली और कभी क्षय नहीं होनेवाली ये औषधियां अच्छे पात्रोंको बहुतायतसे देने लगूं; जिससे जन्मांतरमें ये मुझे फिरसे प्राप्त होवें।" उसको यह गर्व हुआ कि, मुझपर राजराजेश्वर **सुस्थितकी** दृष्टि

पड़ गई है; धर्मबोधकरका मै प्यारा हूं, तद्दया मेरा सत्कार करती है, सब लोग मेरी प्रशंसा करते है, और सद्बुद्धिका तो मै बहुत ही प्यारा हूं, अतएव सपुण्यक हूं, और संसारमें सबसे श्रेष्ठ हूं। इसके पश्चात् वह ऐसा विचार करके कि, "यदि कोई मनुष्य आकर मुझसे प्रार्थना करेगा, तो उसे मै ये औषधियां दूंगा।" दान करनेकी इच्छा करता हुआ रहने लगा। ठीक ही है,—

अत्यन्तं निर्गुणोऽप्यत्र महद्भिः कृतगौरवम्।
नूनं संजायते गर्वी यथाऽयं द्रमकाधमः॥ ४३८॥

अर्थात् किसी अतिशय निर्गुणी पुरुषका भी यदि बड़े पुरुष गौ-रव करते है, तो वह घमंडी हो जाता है, जैसे कि, यह अधम दरिद्री। अभिप्राय यह है कि दरिद्रीके दान करनेके विचारकी राजराजेश्वर आदिने ज्यों ही प्रशंसा की, त्यों ही उसे गर्व हो गया कि, मै सपुण्यक हूं और कोई मुझसे प्रार्थना करेगा, तो मै उसे ये औषधियां दूंगा।

उस राजमन्दिरमें जितने लोग रहते थे; वे सब उक्त तीनों औषधियोंका सेवन करनेवाले थे और उन्हींके प्रभावसे सब प्रकार-की चिन्ताओंसे रहित होकर परमेश्वर हुए थे। और जिन्होंने उस राजमन्दिरमें तत्काल ही प्रवेश किया था, तथा जो इस निष्पुण्यकके समान ही निर्धन थे, वे अन्य लोगोंके पाससे इन औषधियोंको बहुत बहुत पाते थे। इसलिये सपुण्यकके पास कोई भी मनुष्य औषधियोंके लिये नहीं आता था। सपुण्यक चारों ओर नजर फेंकता हुआ याचना करनेवालोंकी प्रतीक्षा करता था—राह देखता था।

जब इस प्रकारसे बहुत समय तक मार्ग देखते हुए रहनेपर भी कोई याचना करनेवाला नहीं मिला, तब उसने इसके लिये सद्-बुद्धिसे फिर पूछा। उसने कहाः—हे भद्र! तुझे बाहर निकलकर

पुकार पुकारके औषधियां देना चाहिये। ऐसा करनेसे यदि कोई लेने-वाला मिल जाय, तो बहुत अच्छा हो।" तब सपुण्यकने इस प्रकार जोरसे आवाज लगाई कि, "हे भाइयो! इन औषधियोंको लो! लो!" और वह उस घरमें चारों ओर घूमने लगा। उसका यह पुकारना सुन-कर वहांपर जो उसके समान अतिशय तुच्छ जीव थे, वे तो उससे उन औषधियोंको लेने लगे। परन्तु दूसरे लोगोंके हृदयमें यह विचार हुआ कि, "अहो! यह रंक जो पहले दरिद्री था अब पागलसा हो गया है, इसलिये राजस्तुतिके वशसे अर्थात् राजाके समान मेरी भी स्तुति होवे इस इच्छासे, अपनी औषधियां हमको देना चाहता है।" इसलिये उनमेंसे कई लोग उसे दान करते देखकर खूब हँसने लगे, कई लोग उसका ठट्ठा करने लगे और कई लोग पराङ्मुख होकर उसका निरादर करने लगे।

सपुण्यकने दान करनेके उत्साहको भंग करनेवाली लोगोंकी ऐसी क्रियाएं देखकर सद्बुद्धिसे कहा, "हे भद्रे! ये औषधियां मेरे पाससे केवल दरिद्री ही लेते है, महापुरुष नहीं लेते हैं, और मेरी इच्छा है कि, इन्हें सब ही लोग लेवें। हे निर्मल नेत्रोंवाली! तू पर्यालोचना करनेमें अर्थात् भलीभाति विचार करनेमें बहुत चतुर है, इसलिये बतला कि, महात्मा पुरुष मेरे पाससे औषधियां किस कारणसे नहीं लेते हैं?

यह सुनकर—"इसने तो मुझे बड़े भारी काममें नियुक्त कर दी" इस प्रकार विचार करते हुए उस सद्बुद्धिने महाध्यानमें प्रवेश किया फिर वह इस कार्यका गहरा अभिप्राय निश्चय करके बोली,—"सब लोग इन औषधियोंको ग्रहण करने लगें, इसका अब एक ही सर्वोत्तम उपाय है। वह यह कि, लोगोंसे खचाखच भरे हुए इस

राजाके आंगनमें इन तीनों भेषजोंको एक बड़ी भारी कठौतीमें (लकडीके पात्रमें) रखकर तुझे विश्वास करके एक ओर बैठ जाना चाहिये। ऐसा करनेसे जो लोग तेरी दरिद्रताका स्मरण करके तेरे पाससे औषधियां नहीं लेते हैं परन्तु यथार्थमें उन्हें चाहते है, वे शून्य स्थान देखकर स्वयंले ले वेंगे। यदि कोई एक ही गुणी पुरुष ये औषधियां ग्रहण कर लेगा. तो मै समझती हूं कि, उससे तू तर जायगा। क्योंकि ऐसा कहा है कि गुणियोंमें कोई पात्र ज्ञानमयी होते है और कोई तपोमयी होते है। सो इनमेंसे जो पात्र (ज्ञानमयी, दर्शनमयी) आवेगा, वही तुझे तार देगा।"

सद्बुद्धिके वचनोंकी चतुराईसे सपुण्यकने बहुत ही आनन्दित होकर उसीके वचनके अनुसार कार्य किया। इस विषयमें अब ग्रन्थकार कहते है कि —

"ऐसे दरिद्रीकी बतलाई हुई भी औषधियां जो मनुष्य ग्रहण करेंगे, वे नीरोगी हो जावेंगे। क्योंकि नीरोग होनेमें ये तीनो औषधियां ही कारण है।"

ग्रहण करनेमे जो स्वभावसे ही दयालु है, ऐसे सब ही लोगोंको यहां जितना विषय कहा गया है, उसको कृपा करके धारण करना चाहिये।

इस प्रकार संक्षेप रीतिसे यह दृष्टान्त कहा गया। अब आगे जो उपनय (दार्ष्टान्त) कहा जावेगा, उसे सुनोः—

संक्षिप्त दार्ष्टान्त।

कथामें जो **अदृष्टमूलपर्यन्त** नामका नगर कहा गया है, उसे जिसका छोर नहीं दिखलाई देता है, ऐसा 'विस्तृत संसार' समझना चाहिये। महामोहसे हते हुए, अनन्त दुखोंसे पीड़ित होते

हुए और पुण्यहीन ऐसे मेरे पूर्वकी स्थितिके 'जीवको' **निष्पुण्यक दरिद्री** जानना चाहिये। भिक्षाका आधारभूत जो उसका मिट्टीका **ठीकरा** था, उसे गुणदोषोंकी आधारभूत 'आयु' मानना चाहिये। **उपद्रवी लड़कों**को 'कुतीर्थक' (अन्यधर्मी), वेदनासे चित्तको क्लेशित करनेवाले भिखारीके **रोगों**को 'रागादि,' और **अजीर्ण**को 'कर्मोंका संचय' समझना चाहिये। 'भोग और स्त्रीपुत्र आदिक' जो संसारके कारण है, जीवको आसक्त करते है, इसलिये उन्हें दरिद्रीका **कदन्न** समझना चाहिये। **सुस्थित** नामके जो महाराज कहे गये है, उन्हें परमात्मा सर्वज्ञ 'जिनदेव' जानना चाहिये। अतिशय आनन्दके उत्पन्न करनेवाले और अनन्तविभूतिसे भरे हुए **राजमन्दिर**को 'जिनशासन' समझना चाहिये। **स्वकर्मविवर** नामका जो द्वारपाल कहा गया है, उसे अपने यथा नाम तथा गुणको धारण करनेवाला 'अपने कर्मोका विच्छेद' समझना चाहिये। और वहां प्रवेश करानेवाले जो और **द्वारपाल** कहे है, तत्त्वकी चिन्ता करनेवालोंको चाहिये कि उन्हें मोह, अज्ञान, लोभादि समझें।

राजालोग 'आचार्य'–**मंत्री** 'उपाध्याय'–**योद्धालोग** श्रेष्ठ 'गीतार्थमुनि,'–गणोंकी चिन्ता करनेवाले **नियुक्तक** (कामदार) 'गणी'–**तलवर्गी** (कोटपाल) सर्व 'सामान्य भिक्षुक,'–शान्तरूप **वृद्धास्त्रियां** 'आर्यिकाएं'–**सुभटसमूह** उनकी रक्षामें चित्त लगानेवाले 'श्रावक'–और **विलासिनियों**के समूह भक्तिमती 'श्राविकाएं' समझनी चाहिये।

शब्दादि विषयोंका आनन्द जो इस प्रकरणमें वर्णन किया गया है, सो सद्धर्मके प्रभावसे जो शब्दादि विषय प्राप्त होते हैं, वे भी सुन्दर होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। **धर्मबोधकर**को मेरे प्रबोधित

करनेवाले ' आचार्य महाराज ' और उनकी मुझपर जो ' महाकृपा ' हुई, उसे **तद्दया** समझनी चाहिये। विमलालोक **अंजनको** 'सम्यग् ज्ञान,' तत्त्वप्रीतिकर **जलको** 'सम्यग्दर्शन' महाकल्याणक **परमान्नको** सम्यक्चारित्र' **सद्बुद्धिको** उत्तम मार्गमें प्रवृत्त करनेवाली 'सुन्दर बुद्धि' और तीनों औषधियोंसे भरी हुई **कठौतीको** यह ' कथा ' समझनी चाहिये।

इस प्रकारसे संक्षेपसे यह सामान्य योजना की गई, अब विशेष योजना गद्यमें करते हैं।

विस्तृत दार्ष्टान्त।

(उपनयन)

तत्त्वज्ञानी पुरुषोंका यह मार्ग है कि,—वे निरन्तर अपना और दूसरोंका कल्याण करनेमें दत्तचित्त रहते है, इसलिये उनके मनमें कोई निष्प्रयोजनीय (बेमतलबके) विकल्प नहीं उठते हैं। यदि कभी अज्ञात अवस्थामें उठते हैं, तो भी वे कभी विना कारणके नहीं बोलते हैं। और यदि कभी तत्त्वज्ञानको नहीं जाननेवाले मूर्ख पुरुषोंके साथ रहनेसे विनाकारणका (निर्निमित्तक) बोल जावें, तो भी वे विना कारणकी कोई चेष्टा नहीं करते हैं अर्थात् उनके उस विनाकारण बोलनेका भी कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। यदि ऐसा न हो, अर्थात् वे विनाकारणकी चेष्टा करें, तो फिर अतत्त्वज्ञ (अज्ञानी) पुरुषोंमें और उनमें कुछ विशेषता ही नहीं रहे और ऐसा होनेसे उनकी तत्त्वज्ञता ही नष्ट हो जाय। इस लिये तत्त्वज्ञानियोंमें अपनी गणना करानेकी इच्छा रखनेवाले सब ही जीवोंको अपने विकल्पोंकी, बोलनेकी और आचरण करनेकी सार्थकता यत्नपूर्वक चिन्तवन करना चाहिये, अर्थात् ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे अपने कोई विचार, वचन तथा आचरण निष्प्रयोजन वा निरर्थक न होवें, साथ ही उस सार्थकताके जाननेवालोंके समक्षमें प्रगट करना चाहिये जिससे कि यदि कोई अपने निरर्थक विचारों वचनों और

आचारणोंको सार्थक मान रहा हो, तो उसे कृपा करके रोक देवें। तदनुसार मैं भी अपनी प्रवृत्तिकी सार्थकता निवेदन करता हूं:-

हे भव्यो ! इस उपमितिभवप्रपंचाकथाके प्रारंभ करनेवालेने (मैंने) पहले दृष्टान्तके द्वारा कथा कही है और उसकी तुमने धारण की है अर्थात् पढ़ी है वा सुनी है। इसलिये अब मेरे अनुरोधसे अन्य सब विक्षेपोंको (बखेड़ोंको ?) छोड़कर उसका दार्ष्टान्तिक अभिप्राय जिसे मैं आगे कहता हूं, सुनो:—

पहले दृष्टान्तमें जो **अदृष्टमूलपर्यन्त** नामका नगर अनेक प्राणियोंसे भरा हुआ और सदा स्थिर रहनेवाला कहा है, सो यह अनादि अनन्त अविच्छिन्नरूप और अनन्त जन्तुओंसे भरा हुआ **संसार** है।

इस संसार नगरमें जो नगरपनेकी कल्पना की गई है, वह ठीक है। उस नगरमें जो धवल गृहोंकी पंक्ति बतलाई है, सो यहां देवलोकादि समझना चाहिये। बाजारोंकी गलिया एक जन्मसे दूसरा जन्म लेनेरूप उत्तरोत्तर जन्मोंकी श्रेणी है। उनमें जो नाना प्रकारकी विक्रीकी चीजें बतलाई है, वे नाना प्रकारके सुख दुख है । और उन चीजोंकी कीमतके समान यहां बहुत प्रकारके पुण्य और पाप हैं। अर्थात् जिस प्रकारसे बाजारकी चीजोंको लोग जुदे २ दाम देकर पाते है, उसी प्रकारसे जीव मनुष्यभवादिरूप बाजारमेंसे सुख दुखरूप वस्तुएं अपने २ पुण्यपापरूप जुदी २ कीमत जितनी जिसके पास होती है, देकर पाते है। नगरमें जो विचित्र २ प्रकारके चित्रोंसे शोभित देवमंदिर कहे हैं, उन्हें यहांके सुगत (बुद्धदेव) कणभक्ष (वैशेषिक दर्शनके स्थापक, कणाद), अक्षपाद (न्यायदर्शनके प्रणेता, गौतम), और कपिल (सांख्यदर्शनके कर्त्ता), आदिके रचे हुए कुमत समझना चाहिये। वहांपर जो आनन्दसे

प्रबल कलकल करनेवाले, मन्दिरोंपर मोहित होनेवाले, दुर्दान्त और बाचाल बालकोंके समूह कहे है, उन्हें यहा बौद्ध आदि मतोंपर विना पूर्वापर (आगे पीछे) विचार किये मोहित होनेवाले भोले लोग समझना चाहिये।

पूर्वोक्त नगरमें जो ऊंचा परकोटा कहा है, उसे संसाररूप नगरमें क्रोधादि कषाय समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार नगरके कोटसे दूसरे शत्रुओंका चित्त भयभीत रहता है, उसी प्रकारसे इन कषायोंसे सारे विवेकी महापुरुषोके चित्त उद्वेगरूप रहते है। चारों ओरसे घेरे हुए जो बड़ी भारी खाई कही है, वह यहां रागद्वेषरूपी तृष्णा समझनी चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार खाई महामोहसे[1] अर्थात् युद्ध करनेकी प्रबल इच्छासे लांघी जा सकती है, और नगरको चारों ओरसे घेरे रहती है, उसी प्रकारसे तृष्णा भी महामोहलंघ्य है अर्थात् महामोह ही उसे जीत सकता है—महामोह ही उससे अधिक बलवान है, दूसरा कोई नहीं है और संसारको सब ओरसे बेढ़े रहती है। नगरमें जो बडे २ विस्तीर्ण सरोवर बतलाये हैं, उन्हें संसरामें इन्द्रियोंके शब्दादि विषय समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार महासरोवर जलसे कठिनतापूर्वक भरे जाते है और बहुत गहरे रहते हैं, उसी प्रकारसे इन्द्रियोंके विषय भी विषयरूपी जलसे कठिनाईसे भरे जाते हैं और बहुत ही गहरे होते है, अर्थात् उनकी थाह नहीं मिलती है कि कितने है। नगरमें जो कोटके समीप गहरे अंधकुए हैं, उन्हें संसार नगरमें प्यारोंका वियोग, अनिष्टोंका संयोग, कुटुम्बियोंका मरण, धनका छीना जाना आदि नानाप्रकारके भाव समझना चाहिये। क्योंकि अंधकूप जैसे पानीकी प्रबल तरंगोंसे चंचल रहते है, और

१ "नियुद्धभूरक्षवाटो मोहो मूर्च्छा च कश्मलम्।" इति हैमः।

पक्षियोंके आधारभूत होते हैं, उसी प्रकारसे इष्टवियोगादि भाव भी रुदनादिजनित आंसुओंकी जल तरंगोंसे आकुलित रहते हैं और मिथ्याती जीवोंके आधारभूत होते हैं अर्थात् विशेषतासे मिथ्यात्व गुणस्थानवाले जीवोंके ही इष्टवियोगादि भाव होते हैं। नगरमें जो बड़े २ बाग[1] और वन वर्णन किये गये है, वे संसार नगरमें जीवधारियोंके शरीर है, क्योंकि जैसे बाग परागके लोभसे भ्रमण करते हुए भ्रमरोंके उपद्रवसे त्रासके कारण होते हैं और वन नानाप्रकारके वृक्षों फलों फूलोंसे परिपूर्ण होनेके कारण अदृष्टमूल होते हैं अर्थात् उनके अन्तका पता नही लगता है, उसी प्रकारसे इन्द्रिय और मनरूपी भौरोंका स्थान होनेसे तथा निजकर्म रूपी नानाप्रकारके वृक्षों फूलों और फलोंसे भरपूर होनेसे जीवोंके शरीर भी दुःखके कारण और अदृष्टमूल होते है, अर्थात् पता नहीं है कि, जीवोंके साथमें कबसे लगे हुए है। इस प्रकारसे जैसा अदृष्टमूलपर्यन्त नगर अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ बतलाया है, उसी प्रकारसे यह संसाररूपी नगर भी अनेक चमत्कारोंका स्थान है।

आगे उस नगरमें जो **निष्पुण्यक** नामका दरिद्री कहा गया है, सो इस संसारनगरमें सर्वज्ञशासनकी (जैनधर्मकी) प्राप्ति होनेसे पहलेकी अवस्थामें मारा मारा फिरता हुआ मेरा जीव है। पुण्यहीनताके कारण इसका उस समयके लिये निष्पुण्यक नाम यथार्थ ही है। जैसे

---

१ मूल पुस्तकमें 'चामरकानने' ऐसा अशुद्ध पाठ छपा है, इस कारण दृष्टान्तमें उसका (पृष्ठ १६ पंक्ति ६ मे) देवोंके विहार करने योग्य बगीचा ऐसा अर्थ किया गया है। परन्तु यहां दार्ष्टान्तमें 'विशालारामकाननायन्ते जन्तुदेहाः' यह पाठ देखनेसे मालूम हुआ कि, पहले 'चारामकानने.' होना चाहिये, जिसका अर्थ बाग और वन होता है। इसलिये १६ वे पृष्ठमे भी ऐसा ही सुधार लेना चाहिये।

उस दरिद्रीको बडे पेटवाला कहा है, उसी प्रकारसे इस जीवको भी विषयरूपी बुरे भोजनसे अपने पेटको पूरा नही भर सकनेके कारण बड़े पेटवाला समझना चाहिये। जैसे उस दरिद्रीको बन्धुओंसे रहित कहा है, उसी प्रकारसे मेरा यह जीव भी जिसके आदिका कुछ पता नहीं है, ऐसे भवभ्रमणमें अकेला जन्मता है, अकेला मरता है और अकेला ही अपने कर्मोंके परिपाकके अनुसार पाये हुए सुख दुःखोंको भोगता है, इसलिये वास्तवमें इसका कोई बन्धु नहीं है। जिस प्रकार वह निष्पुण्यक दरिद्री दुर्बुद्धि है, उसी प्रकारसे यह जीव भी अतिशय उलटी बुद्धिका है। क्योंकि यह अनंत दुःखोंके कारणरूप विषयोंको पाकर सन्तुष्ट होता है, वास्तवमें जो शत्रुओंके समान हैं, उन कषायोंको हितू बन्धुओंके समान सेवन करता है, वास्तवमें अंधेपनके समान जो मिथ्यात्व है, उसको सुदृष्टि (पटुदृष्टिरूप) समझके ग्रहण करता है, नरकोंमें पड़नेके कारणरूप जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच अव्रत हैं, उन्हें आनन्ददायक समझता है, जो अनेक अनर्थोंके करनेवाले हैं, उन पैन्द्रह प्रमादोंको अतिशय स्नेही मित्रोंके समान देखता है, मन वचन कायके अशुभ योगोंको जो कि धर्मरूप धनको हरण करनेके कारण चोरोंके समान हैं, बहुतसा धन कमानेवाले पुत्रोंके समान मानता है और पुत्र, स्त्री, धन, सुवर्ण आदिको जो कि गाढ़े बन्धनोंके समान हैं, अतिशय आल्हादके करनेवाले सोचता है, इन सब चेष्टाओंसे यह दुर्बुद्धि ही है।

जिस प्रकार उस भिखारीको धनरहित वा दरिद्री बतलाया है, उसी प्रकारसे यह जीव सद्धर्मरूपी एक कौड़ी भी पास न रहनेके का-

---

१ स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पांचों इन्द्रियां, निद्रा, और स्नेह ये १५ प्रमाद है।

रण दरिद्री है। जैसे वह रंक पुरुषार्थरहित है, उसी प्रकारसे इस जीवको भी अपने कर्मोंके कारणभूत आस्रवके रोकनेका पराक्रम नहीं होनेसे पुरुषार्थहीन समझना चाहिये। जैसे भिखारीको भूखके कारण दुबला बतलाया है, उसी प्रकारसे इस जीवको भी निरन्तर विषयरूपी भूख लगी रहनेके कारण कृशशरीर समझना चाहिये। जैसे भिक्षुकको अनाथ कहा है, उसी प्रकारसे इस जीवको भी सर्वज्ञदेवरूपी नाथके नहीं मिलनेसे अनाथ जानना चाहिये। जैसे धरतीमें सोनेसे निष्पुण्यककी पीठ और दोनों करवट छिल गये है ऐसा बतलाया है, उसी प्रकारसे इस जीवके सारे अंग-उपांग निरन्तर पापरूपी अतिशय ककरीली भूमिमें लेटनेसे खूब ही छिल गये है, ऐसा समझना चाहिये। जैसे भिखारीका स्वरूप कहा है कि, उसका सारा शरीर धूलिसे मैला हो रहा है, उसी प्रकारसे इस जीवका सारा शरीर भी बँधनेवाले पापपरमाणुओंकी धूलिसे धूसरा समझना चाहिये। जैसे दरिद्रीको चीथड़ोंसे ढँका हुआ कहा है, उसी प्रकारसे यह जीव भी मोहकी २८ भेदरूपी छोटी २ पताकाओंसे (झंडियोंसे) सब ओरसे लिपटा है, इसलिये अतिशय बीभत्सरूप अर्थात् घिनोना दीखता है और जैसे उस भिखारीको निन्दनीय तथा दीन कहा है, उसी प्रकारसे यह जीव भी विवेकके स्थानभूत (ज्ञानी) सज्जनोंके द्वारा निन्दनीय और भय शोकादि पीड़ा देनेवाले कर्मोंसे परिपूर्ण होनेके कारण अतिशय दीन है।

जैसे उस अदृष्टमूलपर्यंत नगरमें वह दरिद्री भिक्षाके लिये घर घर फिरा करता है, ऐसा कहा है, उसी प्रकारसे यह जीव भी संसार नगरमें एक जन्मसे दूसरा जन्म धारण करनेरूप ऊंचे नीचे घरोंमें, विषयरूपी भिक्षाभोजनकी आशाकी फाँसीमें उलझा हुआ,

निरन्तर भ्रमण किया करता है। और उसके पास जो भीख रखनेके लिये फूटे घड़ेका ठीकरा बतलाया है, सो इस जीवकी आयु समझनी चाहिये। क्योंकि यह आयुरूपी ठीकरा ही इस जीवके विषयरूपी बुरे अन्न आदिका तथा सम्यक्चारित्ररूप महाकल्याणक आदि दिव्य पदार्थोंका आश्रय है। अभिप्राय यह है कि, जब आयु होती है, तब ही विषय सेवनादि वा चारित्र पालनादि कार्य होते है। इन सबका आधार आयु है। इस आयुरूपी ठीकरेको लेकर ही यह जीव संसार नगरमें बारबार भ्रमण करता है।

और जो उस भिखारीको लकड़ी मुक्कों तथा बड़े २ ढेलोंकी चोटोंमे क्षण क्षणमें ताड़ना करनेवाले और शरीरको जरजरा करनेवाले दुर्दमनीय लड़के बतलाये है, सो इस जीवके नाना प्रकारके बुरे विकल्प, उनके उत्पन्न करनेवाले कुतर्कग्रंथ, अथवा उनके बनानेवाले कुतीर्थिक (कुगुरु) समझना चाहिये। वे जब जब इस बेचारे जीवको देखते है, तब तब कुयुक्ति (हेत्वाभास) रूप सैकड़ों मुद्गरोंकी मारसे इसके तत्त्वाभिमुखरूप शरीरको जर्जरा कर डालते है। अभिप्राय यह है कि, कुगुरुओं वा कुग्रंथोंकी खोटी युक्तियोंसे वास्तविक तत्त्वोंके सम्मुख होनेवाली श्रद्धा नष्ट हो जाती है। फिर जब उनके हेत्वाभासोंसे तत्त्वाभिमुखरूप शरीर जर्जर हो जाता है, तब यह जीव कार्यका विचार नहीं कर सकता है, भक्ष्य क्या है और अभक्ष्य क्या है, पीने योग्य (पेय) क्या है और नहीं पीने योग्य (अपेय) क्या है, इसके स्वरूपको नहीं समझता है, छोड़ने योग्य

---

१ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोहनीय ये तीन दर्शनमोहनीयके और १६ कषाय और हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये ९ नो कषाय, इस तरह २५ चारित्र मोहनीयके भेद हैं।

क्या है और ग्रहण करने योग्य क्या है, इसका भेद नहीं जानता है और अपने तथा पराये गुणदोषोंके कारण क्या हैं, यह नहीं समझ सकता है। फिर कुतर्कोंसे भ्रान्तचित्त होकर (थककर) यह जीव विचारता है कि,—परलोक नहीं है, बुरे भले कर्मोंका फल नहीं मिलता है, आत्माका अस्तित्व ही संभव नहीं है, सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती, और इसलिये उसका उपदेश किया हुआ मोक्ष-मार्ग भी घटित नहीं हो सकता है। जब इसके हृदयमें ऐसे अतत्त्व बैठ जाते हैं, तब यह जीवोंको मारता है, झूठ बोलता है, पराया धन चुराता है, परस्त्रियोंके साथ कामसेवन करता है, परिग्रहका संग्रह करता है, इच्छाका परिमाण नहीं करता है कि, मै अमुक २ पदार्थोंका ही सेवन ग्रहण करूंगा, मांस खाता है, शराब पीता है, अच्छे उपदेशोंको नहीं मानता है, खोटे मार्गका प्रकाश करता है, जो वन्दना करने योग्य हैं, उनकी निन्दा करता है, जो निन्दा करने योग्य है उनकी वंदना करता है, अपने कामोंको गुण-रूप (अच्छे) समझता है, पराये कामोंको दोषरूप (बुरे) समझता है और दूसरोंकी निंदा करता है, इस तरह सारे पापोंका आचरण करता है पश्चात् ऐसे दुराचारोंसे यह जीव अधिक स्थितिवाले बहुतसे कर्मोंको बांधता है और उनके कारण नरकोंमें जाकर पड़ता है। वहां अपने पापोंसे प्रेरित हुए महापापी असुरोंके द्वारा कुंभीपाकमें अर्थात् तैलकी कढ़ाहीमें पकाया जाता है, करोंतसे चीरा जाता है, वज्र सरीखे कांटोंवाले सेमरके वृक्षोंपर चढ़ाया जाता है, संडासीसे (संसीसे) मुंह फाड़कर उबलता हुआ तप्त सीसा पिलाया जाता है, अपने शरीरका मांस खिलाया जाता है, अत्यन्त गर्म भाड़ोंमें भूंजा जाता है, पीब, वसा (चर्बी,) रक्त, मल, मूत्र, और आंतोंसे कलुषित

(मैली) वैतरणी नदीमें तिराया जाता है, और तरवार सरीखे पैने पत्तेवाले वनोंमें खंड खंड किया जाता है।

उन नरकोंमें ऐसी भूख होती है कि, संसारमें जितनी पुद्गलराशि है, वह सब भक्षण कर ली जावे, तो भी शान्त नहीं होती है। प्यास ऐसी लगती है कि, सारे समुद्रोंका जल पान करनेसे भी नहीं बुझती है। वहां जीव शीतकी कठिन वेदनासे पराजित होता है, अर्थात् बहुत दुखी होता है, अतिशय गर्मीसे क्लेशित होता है और दूसरे नारकी इसे नाना प्रकारके दुःख देते है। उस समय यह अतिशय दुःखी जीव व्याकुल होकर, "हे माता! रक्षा करो! हे नाथ! मुझे बचाओ!" इस प्रकार व्याकुल होकर रोता हुआ पुकारता है। परन्तु वहांपर इसके शरीरकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं होता है— कोई इसे बचा नहीं सकता है।

यदि किसी तरह यह नरकोंसे भी निकलता है, तो तिर्यंच गतिमें जन्म लेता है, और वहां भी बहुत दुखी होता है। वजन लादा जाता है, लकड़ी आदिसे पीटा जाता है, कान पूंछ छेदे जाते है, कीड़ोंके समूह काटते है, भूख सहता है, प्यासों मरता है, और नाना प्रकारकी पीड़ाओंसे दुखी होता है।

यदि कदाचित् तिर्यंच गतिसे निकल कर यह जीव मनुष्यभव पाता है, तो उसमें भी अनेक दुःखोंसे पीड़ित होता है। मनुष्य गतिमें रोगोंके समूह क्लेशित करते है, बुढ़ापेके विकार जरजरा करते हैं, दुर्जन बहुत ही खेदित करते हैं, प्यारोंके वियोग विह्वल करते है, अनिष्टोंके संयोग रुलाते है, धनहरण अर्थात् चोरियां कंगाल कर देती हैं, अपने कुटुम्बियोंके मरण व्याकुल करते हैं और नाना प्रकारके भ्रम बावला बना देते है।

और कदाचित् यह जीव देवोंकी पर्याय पाता है, तो उसमें भी नाना प्रकारकी मानसिक वेदनाओंसे ग्रसित रहता है। इन्द्रादि अधिकारियोंकी आज्ञाका परवश होकर पालन करता है, दूसरोंका वैभव देखकर खेद करता है, पूर्वभवके किये हुए प्रमादोंके स्मरण होनेसे दुखी होता है अर्थात् यह सोच कर चिन्ता करता है, कि, "हाय मैने पूर्वजन्ममें तपस्या आदिमें इतनी कमी कर दी, जिससे कि इन्द्रादिकोंकी ऊंची विभूति नही मिली, और इसलिये इनका आज्ञाकारी होना पड़ा," जो अपने अधीन नहीं है, ऐसी दूसरोंकी सुंदर-देवागनाओंकी डाहसे मन ही मन जलता है और उनका संयोग कैसे हो, इस प्रकारकी चिन्ता उसे कांटे सरीखी चुभती है, बड़ी ऋद्धिवाले देव निन्दा करते है, अपना च्यवनसमय निकट देखकर अर्थात् अपनी मौत नजदीक जानकर विलाप करता है, और मृत्युको बहुत ही निकट आई देखकर आक्रन्दन करता है अर्थात् खूब रोता है। अंतमें आयु पूर्ण करके सब प्रकारकी अपवित्रताके स्थानभूत गर्भरूपी कर्दममें (कीचडमें) पडता है।

ऐसी स्थितिमें जो भिखारीका वर्णन करते समय कहा गया है कि:—"सारे शरीरमें बड़ी २ चोटोंके लगनेसे उसका आत्मा अतिशय दुखी हो रहा है और '**हा माता मेरी रक्षा करो**' इस प्रकार दीनतासे चिल्लाता हुआ वह व्याकुल हो रहा है।" सो भी इस जीवके विषयमें बराबर समझना चाहिये। (क्योंकि नरकादि दुर्गतियोंमें यह भी नाना प्रकारके दुःखोंकी चोटें सहता है, रोता चिल्लाता है, और दुःखोंसे बचनेका कुछ उपाय न पाकर व्याकुल रहता है।) इन सारे अनर्थोंके कारण इस जीवके नाना प्रकारके बुरे विकल्प, उनके उत्पन्न करनेवाले कुदर्शन ग्रन्थ (अन्यधर्मीय ग्रन्थ), और उनके बनानेवाले कुगुरु है।

उस भिखारीके शरीरमें उन्माद आदि रोग बतलाये गये हैं, सो इस जीवके सम्बन्धमें महामोह आदि समझना चाहिये। जैसे निष्पुण्यकको उन्माद रोग था और उससे वह सब प्रकारके अकार्योंमें प्रवृत्ति करता था, उसी प्रकारसे इस जीवके मोह और मिथ्यात्वरूपी उन्माद है और इससे यह भी अकार्य करनेमें ही लगा रहता है। ज्वरके समान इस जीवके राग समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार ज्वरसे सारे अंगमें बड़ी भारी तपन होती है, उसी प्रकारसे रागसे भी सर्वांग तप्त होते है। शूलके समान द्वेष समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार शूलसे हृदयमें गाढ़ी वेदना होती है, उसी प्रकारसे द्वेषसे भी होती है। खुजलीके समान काम समझना चाहिये। क्योंकि उसमें भी विषयाभिलाषितारूपी तीव्र खुजली चलती है। गलित कुष्ट (बहनेवाले कोढ़के) समान भय शोक और अरतिसे उत्पन्न होनेवाली दीनता समझनी चाहिये। क्यों कि जिस तरह कोढ़से लोगोंको ग्लानि होती है, तथा दूसरोंके चित्तमें उद्वेग होता है, उसी प्रकार दीनतासे भी दूसरोंको घृणा और उद्वेग होता है। नेत्र रोगके समान अज्ञानको समझना चाहिये। क्यों कि जिस प्रकार आंखोंकी बीमारीसे विवेकदृष्टि अर्थात् देखनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अज्ञानसे विवेकदृष्टिका अर्थात् ज्ञानका घात हो जाता है। जलोदर रोगके समान प्रमादको समझना चाहिये। क्यों कि जिस तरह जलोदरमें अच्छे कामोंके करनेका उत्साह नष्ट हो जाता है, उसी तरह प्रमादके वशमें पड़नेसे इस जीवका शुभ कार्योंके करनेमें उत्साह नहीं रहता है।

इस प्रकारसे यह जीव मिथ्यात्व, राग, द्वेष, काम, दीनता, अज्ञान, और प्रमाद आदि भावरोगोंसे विह्वल होकर जरा भी सचेत नहीं

होता है। और ऊपर कहे हुए भक्ष्य, अभक्ष्य, पेय अपेय आदिका जो निश्चय नहीं होने देता है ऐसे महातमरूप मोहको और जो परलोक नहीं है, शुभ अशुभ कर्मोंका फल नहीं मिलता है, इत्यादि मिथ्यात्वके भेद कहे हैं उन्हें, अभीतक नहीं जानता है। अभिप्राय यह कि, मोह और मिथ्यात्व दोनोंका ही स्वरूप नहीं जानता है। इन दोनोंकी अर्थात् मोह और मिथ्यात्वकी उत्पत्तिमें दो कारण हैं, एक बाह्य और दूसरा अन्तरंग। कुतर्क ग्रन्थादि तो बाह्य सहकारी कारण है और राग द्वेष मोह आदि अन्तरंग उपादान कारण है। इसलिये पहले कहे हुए सारे अनर्थ वास्तवमें इन्हीं दोनोंके उत्पन्न किये हुए समझना चाहिये।

यद्यपि कुशास्त्रसंस्कारादि अनर्थ उत्पन्न करनेके कारण हैं, परन्तु वे कादाचित्क हैं अर्थात् उनका योग कभी २ जुड़ता है। पर राग द्वेषादि ऐसे नहीं हैं, वे अज्ञान और मिथ्यात्व भावोंको निरन्तर उत्पन्न करते है। इसके सिवाय कुशास्त्रोंके उपदेशका सुनना आदि होनेपर भी अनर्थ होनेका नियम नहीं है, हो और नहीं भी हो। इस प्रकारसे इसमें व्यभिचार है, अर्थात् नियम नहीं है। परंतु रागादि भाव ऐसे हैं कि, उनके कारण महा अनर्थोंके गड्ढेमें पड़ना ही पड़ता है। इसमें व्यभिचार नहीं है—नियम है। क्योंकि रागद्वेषसे जीता गया जीव अज्ञानरूपी घोर अंधकारमें प्रवेश करता है, नाना प्रकारके मिथ्यात्वके भेदोंको धारण करता है, सैकड़ों बुरे काम करता है, और उनसे बड़े भारी कर्मोंका संचय करता है। पश्चात् उन कर्मोंका विपाक होनेपर अर्थात् उनके उदयमें आनेपर कभी देवोंमें उत्पन्न होता है, कभी मनुष्योंमें उपजता है, कभी पशु होता है और कभी महानरकोंमें जाकर पड़ता है। तथा उक्त चारों गतियोंमें जैसा कि पहले

कह चुके है, महान् दुःखोंको अरहटकी घड़ियोंके समान निरन्तर अनन्तवार भोगता हुआ भ्रमण करता है। ऐसी स्थितिमें भिखारीके वर्णनमें जो कहा है कि, उसे शीत, आताप, डांस, मच्छर, भूख, प्यास आदि घोर नरकके समान वेदनाएं पीड़ित करती हैं, सो उन सबको इस जीवके सम्बन्धमें घटित कर लेना चाहिये।

और वहां कहा है कि, "उस भिखारीको देखकर सज्जनोंको दया उत्पन्न होती है, मानी पुरुषोंको हंसी आती है, बालकोंको खेल सूझता है और पापकर्म करनेवालोंके लिये पापकर्मोंके फलका दृष्टान्त मिलता है।" सो भी सब इस संसार नगरमें मेरे जीवके विषयमें योजित कर लेना चाहिये,—यह जीव निरन्तर असातारूपी सन्निपातसे ग्रसित दिखलाई देता है, इसलिये शान्ति सुखके रसमें जिनका आत्मा अतिशय तन्मय हो रहा है, उन ज्ञानी साधुओंकी कृपाका स्थान तो होना ही चाहिये। क्योंकि उनका चित्त दुखी जीवोंपर सर्वदा ही करुणाभावमय रहता है। और जो सरागसंयमी मुनि तपश्चरण करनेमें निरन्तर उद्यत रहते हैं वे अपनी वीरताके अभिमानमें मानी पुरुषोंके समान यह सोच करके कि, इस धर्मपुरुषार्थके साधन करनेमें असमर्थ जीवका पुरुषत्व किस कामका? अनादर दृष्टिसे देखते हैं; इस लिये उनके हास्यका स्थान समझना चाहिये। और जिनके चित्तमें मिथ्यात्व बस रहा है, तथा जिन्होंने किसी प्रकारसे लवमात्र विषयसुख पाया है, ऐसे बालजीवोंके लिये (मूर्खोंके लिये) यह पापी जीव खेल करनेका स्थान है। क्योंकि जिनका चित्त धनके घमंडसे उद्धत रहता है, वे ऐसे कर्म करनेवालोंकी नाना प्रकारसे विडम्बना करते है, यह प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है। और जब पापके फलोंका निरूपण किया जाता है, तब ऐसा जीव दृष्टान्तस्वरूप होता ही है। क्योंकि

भगवान् तीर्थंकर अथवा अन्य आचार्य जब पाप कर्मोंका स्वरूप प्रगट करते हैं, तब भव्य जीवोंके हृदयमें संसार–देह–भोगोंसे भय उत्पन्न करनेके लिये ऐसे ही जीवोंका उदाहरण देते हैं।

और आगे जो उस दरिद्रीके वर्णनमें कहा है कि, "उस महा नगरमें और भी अनेक रंक देखे जाते है, परन्तु निष्पुण्यकके समान अभागोंका शिरोमणि दूसरा कोई नही है।" सो मैने अपने जीवका अत्यन्त विपरीत आचरण अनुभव करके कहा है। क्योंकि इसके जन्मके अंधेपनको भी नीचा कर देनेवाला **महामोह** है, नरकके संतापको भी पराजित करनेवाला **राग** है, जिसकी कोई उपमा नहीं मिल सकती ऐसा दूसरोंसे **द्वेष** है, अग्निकी भी हँसी करनेवाला **क्रोध** है, सुमेरु पर्वतको भी छोटा करनेवाला **मान** है, नागिनीकी चालको भी जीतनेवाली **माया** है, स्वयंभूरमण समुद्रको भी थोड़ा दरसानेवाला **लोभ** है, और स्वप्नकी प्यासके समान **विषयलम्पटता** है। जिनेन्द्र भगवानके धर्मकी प्राप्तिके पहले मुझमें ये सब दोष थे; यह मुझे स्वसंवेदनसे (आत्मानुभवसे) ज्ञात हुआ है। और इसीलिये मै समझता हूं कि दोषोंकी इतनी उत्कटता जितनी कि मुझमें है, बहुतकरके दूसरे जीवोंमें नहीं है। अर्थात् मेरे समान अभागी और कोई दूसरा नहीं है। यह बात युक्तिसे किस तरह घटित होती है, सो मै आगे अपने प्रतिबोधित होनेके अवसरमें विस्तारसे कहूंगा।

वह दरिद्री 'अदृष्टमूलपर्यन्तनगरमें' भिक्षाके लिये घर २ फिरता हुआ इस प्रकार विचार करता है कि, "मुझे अमुक देवदत्तके बन्धुमित्रके, अथवा जिनदत्तके घरपर स्निग्ध (चिकनी), मीठी, बहुतसी और उत्तम प्रकारसे बनी हुई भिक्षा मिलेगी। उसे मैं झटपट ऐसे एकान्त स्थानमें जहां कि दूसरे भिखारी नहीं देख सकेंगे ले जाऊंगा

और वहां थोड़ीसी खाकर बाकी दूसरे दिनके लिये रख दूंगा। उस समय दूसरे भिखारी किसी तरहसे जान जावेंगे कि, इसे भीख मिली है, और मेरे पास आकर मांगेगे तथा उपद्रव करेंगे, परन्तु मै प्राण जानेपर भी उन्हें अपनी भीख नहीं दूंगा। यदि वे जबर्दस्ती मेरा भोजन छुड़ावेंगे, तो मै उनके साथ लड़ना प्रारंभ करूंगा। यदि उस समय वे मुझे लकड़ी मुक्कों तथा ढेलोंसे मारेंगे, तो मै एक बड़ा भारी मुद्गर लूंगा और उनका एक एकका चूरा बना डालूंगा। वे पापी मेरे मारे कहां जावेंगे?" ऐसे ऐसे अनेक प्रकारके झूठे विकल्पोंसे आकुल व्याकुल होकर वह निरन्तर केवल रौद्रध्यान ही किया करता है। परन्तु बेचारा घरघर भटकनेपर भी थोड़ीसी भी भीख नहीं पाता है। उलटा अपने चित्तके खेदको अनन्तगुणा कर लेता है। और यदि कभी दैवयोगसे थोड़ीसी भीख पा लेता है, तो उससे एक बड़े भारी राज्यका अभिषेक पानेके समान अर्थात् राजा हो जानेके समान अत्यन्त आनन्दित होता है और सारे संसारको अपनेसे नीचा समझता है। भिखारीके इस सारे चरित्रकी योजना मेरे जीवके विषयमें इस प्रकारसे करना चाहिये:—

संसाररूपनगरमें निरन्तर भ्रमण करते हुए इस जीवको शब्द, वर्ण, रस, आदि २८ प्रकारके विषय, भाई, पिता, आदि बन्धु, सोना, चांदी आदि धन, तथा इनके सिवाय क्रीड़ा विकथादि और भी जो जो संसारके कारणरूप पदार्थ प्राप्त होते हैं, उन सबको कदन्न अर्थात् भीखका बुरा भोजन समझना चाहिये। क्योंकि कदन्नके समान ये सब पदार्थ भी वृद्धिरूप होनेवाले, रागादि भाव रोगोंके करनेवाले, और कर्मसंचयरूपी महा अजीर्णके करनेवाले हैं। और जिस प्रकार वह भिखारी विचार करता है, उसी प्रकारसे यह महामोहग्रसित जीव

भी चिन्तवन करता है "कि, मैं बहुतसी स्त्रियोंके साथ विवाह करूंगा, वे अपने रूपसे तीनों लोकोंको पराजित करेंगी, सौभाग्यसे कामदेवका भी साम्हना करेंगी, अपने नानाप्रकारके विलासोंसे (नखरोंसे) मुनियोंके चित्तोंको भी क्षुभित करेंगी, कलाओंसे बृहस्पतिकी भी हँसी करेंगी और विज्ञानसे अतिशय मानी पंडितोंके चित्त भी रंजायमान करेंगी। ऐसी रूपगुणसम्पन्न स्त्रियोंका मै हृदयवल्लभ होऊंगा। वे मेरे सिवाय दूसरे पुरुषोंकी गन्ध भी सहन न करेंगी, मेरी आज्ञाका कभी उल्लंघन न करेंगी, मेरे चित्तको निरन्तर अतिशय आनन्दित किया करेंगी, बनावटी क्रोध दिखलाकर मै रूठ जाऊंगा, तो वे मुझे मनाकर प्रसन्न करेंगी, कामक्रीड़ारूप कार्य सिद्ध करनेके लिये घूंसरूप सैकड़ों चाटुकार (खुशामदें) करेंगी, इशारोंसे मेरे हृदयके सद्भावोंको प्रगट किया करेंगी, नाना प्रकारके विब्बोक[1] हावोंसे मेरे हृदयको हरण करेंगी और निरन्तर परस्परकी ईर्षासे वे मेरे ऊपर कटाक्षोंके बाण छोड़कर इच्छापूर्वक मुझे घायल करेंगी। और मेरा इन्द्रके परिवारकी भी हँसी करनेवाला, विनयवान, चतुर, शुद्धचित्त, सुन्दर वेशवाला, अवसर देखकर कार्य करनेवाला, मनको रुचनेवाला, मुझपर प्यार करनेवाला, सारे उपाय करनेमें तत्पर, शूरवीर, उदार, सारी कलाओंका जाननेवाला, और सत्कार करनेमें कुशल, परिवार होगा। मेरे ऐसे बहुतसे महल होंगे, जो अपनी यशरूपी स्वच्छ कलईकी सफेदीके कारण अपने चित्तके समान शोभित होंगे, बहुत बड़ी ऊंचाईके कारण हिमालय पर्वतकी शंका उत्पन्न करेंगे, नाना प्रकारके विचित्र २ चित्रोंसे दर्शनीय होंगे, चँदोवोंसे शोभित होंगे, नेत्रोंको आनंदित करनेवाली

---

१ स्त्रिया जिस भावसे स्नेहके वश पतिका अनादर करती हैं, उसे विब्बोक हाव कहते हैं।

अनेक प्रकारकी पुतलियों आदिकी रचनासे युक्त होंगे, उनमें बहुत प्रकारकी भोजनशाला गोशाला रतिशाला आदि शालाएं होंगी, बहुत विस्तार होगा, अनेक तरहके प्रकोष्ठ (कोठे) होंगे, खूब लम्बे चौड़े अनेक आकारके सभामंडप होंगे, वे चारों ओरसे बड़े भारी कोटसे घिरे हुए होंगे, इन्द्रके महलोंकी भी हँसी करेंगे, और सात सात आठ आठ खनके होंगे। मेरे इन महलोंमें मरकत, इन्द्रनील, महानील, कर्केतन, पद्मराग, वज्र, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, चूड़ामणि, और पुष्पराग आदि रत्नोंकी राशियां प्रकाश करेंगी, सोनेके ढेर अपने पीले प्रकाशको चारों ओर प्रदर्शित करते हुए शोभा देंगे, धान्य, चांदी और दूसरी धातुएं इतनी अधिक होंगीं कि, उनका अनादर होने लगेगा, मुकुट, बाजूबन्द, कुंडल और प्रालम्ब[1] आदि भूषण मेरे हृदयको आनन्दित करेंगे, चीनांशुक (रेशमी), पट्टाँशुक (सूती) और देवांशुक (देवदूष्य) वस्त्र मेरे चित्तमें प्रेम उत्पन्न करेंगे, महलके समीपवर्ती लीला करनेके ऐसे बगीचे मेरे हृदयको आनन्दको बढ़ावेंगे, जिनमें कि मणि सुवर्णादिकी विचित्र रचनासे मंडित क्रीड़ा करनेके पर्वत शोभित होंगे, दीर्घिका, (बावड़ी), गुंजालिका, और यंत्रवापिका[2] आदि अनेक प्रकारके जलाशयोंके कारण जो मनको हरण करनेवाले होंगे, बकुल, पुन्नाग (नागकेशर), नाग (नागबेल), अशोक, चम्पक आदि विविध प्रकारके वृक्षोंके कारण जो विस्तृत होंगे, पांचों रंगके सुगंधित और सुन्दर फूलोंके भारसे शाखाओं तक नम्र हुए कुमद कोकनद आदि कमलोंसे जो सुन्दर होंगे, और जहां घूमते हुए भौंरोंके सुन्दर गुंजारयुक्त गीत होते होंगे। सूर्यके रथोंकी सुन्दरताको

---

१ कठसे नीचे लटकनेवाली माला। २ जिस बावड़ीमें फव्वारे लगे हुए हों।

भी जीतनेवाले मेरे रथ मुझे प्रमुदित करेंगे । इन्द्रके ऐरावत हाथीके माहात्म्यको भी नष्ट करनेवाले मेरे श्रेष्ठ हाथियोंकी श्रेणी मुझे हर्षित करेगी । सुरेन्द्रके घोड़ोंको नीचा दिखानेवाले करोड़ों घोड़े मुझे संतोषित करेंगे । मेरे आगे २ दौड़नेवाले, मुझपर प्रेम करनेवाले, दूसरोंको दूर करनेमें चतुर, परस्पर एक चित्तवाले और एक दूसरेसे अतिशय सटे हुए असंख्य पैदल सिपाही मेरे हृदयको उल्लासयुक्त करेंगे। नमस्कार करनेमें अनुराग रखनेवाले अनेक राजा अपनी मुकुटमणियोंकी किरणोंसे मेरे चरण कमलोंको प्रतिदिन रंजित करेंगे । मै बहुत बड़ी पृथ्वीका मांडलिक राजा होऊंगा और बृहस्पतिकी बुद्धिका भी तिरस्कार करनेवाले मेरे बड़े २ मंत्री राज्यके सारे कार्योंको चलावेंगे।" ये सब मनोरथ भिखारीकी अच्छी भिक्षा मिलनेकी इच्छाके तुल्य समझना चाहिये । और भी यह जीव विचार करता है कि, "जब मैं अतिशय समृद्धिशाली और निश्चिन्त हो जाऊंगा और इसलिये जब सब प्रकारकी सामग्री मेरे पास हो जायगी, तब विधिपूर्वक 'कुटीप्रावेशिक[1]' रसायन सिद्ध करूंगा। उसके सेवन करनेसे मै सिकुड़नवालोंकी सफेदी, गंजापन, अंगहीनता आदि दोषोंसे रहित, जरामरणरूप विकारोंसे मुक्त, देवकुमारोंसे भी अधिक कान्तिवाला, सम्पूर्ण विषयोंके भोगनेमें समर्थ और बलवान् शरीर प्राप्त करूंगा।" यह सब पाई हुई भिक्षाको एकान्त स्थानमें ले जानके मनोरथके समान समझना चाहिये ।

और भी विचार करता है कि,—"इस प्रकारका शरीर प्राप्त होनेपर मैं अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न होऊंगा और गहरे प्रेमसमुद्रमें डूबकर उन मनोहर स्त्रियोंके साथमें इस प्रकार क्रीड़ा करूंगा,—कभी

---

१ कोई इस प्रकारकी रसायन जिसके कारण नीरोगी सुन्दर शरीर प्राप्त हो ।

निरन्तर प्रवर्तमान मदनरसके वशमें होकर बहुत समय तक सुरत[1]-क्रीड़ासे स्पर्शनेन्द्रियको प्रसन्न करूंगा, कभी रसनेन्द्रियको सन्तुष्ट करनेके लिये सारी इन्द्रियोंको स्वस्थ करनेवाले तथा बल देनेवाले मनोज्ञ रसोंका स्वाद लूंगा, कभी अतिशय सुगंधित कपूर मिले हुए चन्दन, केशर और कस्तूरीका विलेपन करके पांच प्रकारकी सुगंधि-संयुक्त ताम्बूलका स्वाद लेनेके बहाने नासिका इन्द्रियको तृप्त करूंगा, कभी ऐसे नाटकोंको देखकर जिनमें कि निरन्तर मृदंगोंकी ध्वनि होती है, देवांगनाओंका भ्रम उत्पन्न करनेवाली सुन्दर स्त्रियां जिन्हें खेलती है, नानाप्रकारके वेष जिनमें धारण किये जाते हैं, और अंग-हार[2] नामक नृत्यसे जो मनको हरण करता है नेत्रोंको आनन्दित करूंगा, कभी मधुर कंठवाले और गायनविद्याके प्रयोगोंको अच्छी तरहसे जाननेवाले गंधर्वोंके वांसुरी, वीणा और मृदंगोंके साथ गाये हुए सूक्ष्म मधुर और अस्पष्ट ध्वनिसंयुक्त गीतोंको सुनकर कानोंको आल्हादित करूंगा और कभी सारी कलाओंके जाननेवाले, समान अवस्थावाले (हमउमर), अपना हृदयसर्वस्व सोंप देनेवाले अर्थात् परस्पर किसीसे कुछ छुपा न रखनेवाले, उत्कृष्ट, शूरता, उदारता और पराक्रमवाले, और सुन्दरतामें कामदेवके भी रूपपर हँसनेवाले मित्रोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करता हुआ सारी इन्द्रियोंको आल्हादित करूंगा।" इन सब विचारोंको उस भीखको एकान्तमें खानेकी इच्छाके समान समझना चाहिये।

फिर विचार करता है कि,—"इस प्रकारसे बहुतकाल तक परमोत्कृष्ट सुख भोगते रहनेपर मुझे ऐसे सैकड़ों पुत्र प्राप्त होंगे, जिनका स्वरूप देवकुमारों सरीखा होगा, जो शत्रुओंकी स्त्रियोंके हृदयमें दाह

---

१ स्त्री–सभोग। २ जिस नृत्यमें अगुलिया तथा दूसरे अग मटकाये जाते हैं।

उत्पन्न करेंगे (कि, हाय हमारे ऐसे पुत्र न हुए), सारे कुटुम्बी तथा प्यारे लोगोंकी नाना प्रकारकी प्रकृतियोंको प्रसन्न करेंगे, सबके मनकी करेंगे और जिन्हें देखकर मेरे ही प्रतिबिम्बकी शंका उत्पन्न होगी (कि, इनका रूप ठीक पिताके समान है), और तब मैं सर्व मनोरथ पूर्ण हो जानेसे और सारे विघ्नोंका नाश हो जानेसे अपनी इच्छानुसार अनंत काल तक विचरण करूंगा।" यह सब उस भीखके कदन्नको बहुत दिनोंके लिये रख छोड़नेके मनोरथ तुल्य समझना चाहिये।

आगे यह जीव फिर विचार करता है कि:–" मेरे इस प्रकारके वैभवकी बढ़तीको यदि कभी दूसरे राजा लोग सुन लेंगे, तो वे ईर्षासे सबके सब एकत्र होकर मेरे देशपर चढ़ आवेंगे, और उपद्रव मचावेंगे। यह देख मै शीघ्र ही चतुरंगिनी सेनाके साथ उनपर टूट पडूंगा। और वे भी अपनी सेनाके घमंडसे मेरे साथ संग्राम करने लगेंगे! फिर क्या है, बहुत समय तक दोनोंका घोर युद्ध होगा। उस समय यदि वे परस्पर सटे हुए होनेसे तथा बहुतसे साधन पाजानेसे मुझपर जरा भी आक्रमण करेंगे, तो मेरा क्रोध एकाएक बढ़ जायगा और उससे रणका उत्साह इतना प्रबल हो जायगा कि, उनको मैं एक एक करके सेनासहित चूर्ण कर डालूंगा। मेरे बाँधे हुए उन सब योद्धाओंका पातालमें प्रवेश करनेपर भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। अर्थात् वे किसी तरहसे नहीं बच सकेंगे।" दरिद्री विना समयके ही जो लड़ाई करनेका विचार करता है, यह प्रसंग उसीके समान समझना चाहिये।

फिर विचार करता है कि,–" इसके पश्चात् पृथ्वीके समस्त राजाओंका जीतनेवाला होनेके कारण मैं चक्रवर्ती पदको प्राप्त करूंगा–

मेरा चक्रवर्ति–राज्याभिषेक किया जावेगा। उससमय तीन भुवनमें ऐसी कोई भी वस्तु न रहेगी, जो मुझे प्राप्त नही होगी।" इस प्रकारसे यह राजपुत्र आदि अवस्थाओंमें वर्तता हुआ जीव बहुतसे निरर्थक विकल्पोंसे जो एकके बाद एक उठा करते हैं, अपने आपको व्याकुल किया करता है–रौद्रध्यान करता है, और उससे सघन कर्मोंका बंध करके महान् नरकोंमें पडता है। इन राजकुमार आदि अवस्थाओंमें यद्यपि यह जीव अनेक प्रकारसे खेदित होता है, परन्तु तो भी पूर्वोपार्जित पुण्यके अभावसे अपने हृदयकी तापको छोड़कर और किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं करता है। इससे यह समझना चाहिये कि यह जीव राजकुमारादि अवस्थाओंमें यद्यपि अतिशय विशालचित्त होनेके कारण छोटी वस्तुओंपर अपने मनोरथको नहीं जाने देता है तथा बहुतसे धनकी चाह रहनेके कारण अपनी बुद्धिसे भी बड़ा उदार रहता है, तो भी जिन्होंने शान्तिरूपी अमृतके आस्वादन करनेका सुख अनुभव किया है, पंचेन्द्रियके विषयोंका दुखदाई परिणाम जिन्हें ज्ञात है और सिद्धिरूपी नवीन स्त्रीसे सम्बन्ध करनेका जिन्होंने निश्चयकर लिया है, ऐसे ज्ञानवान् और श्रेष्ठ साधुओंको वह क्षुद्र भिखारीके समान ही प्रतिभासितहोता है, फिर अन्य अवस्थाओंकी तो कथा ही क्या है? अर्थात् जब राजकुमारादि ऊंची अवस्थाओंमें भी इस जीवको वे भिखारी समझते है, तब और साधारण नीची अवस्थाओंमें तो समझेंहीगे। आगे इसी बातको स्पष्ट करके दिखलाते हैं:–

जब तत्त्वमार्गका (सच्चेधर्मका) नहीं जाननेवाला यह रंक जीव ब्राह्मण, वैश्य, अहीर, और अंत्यज (नीच) आदि जातियोंमें उत्पन्न होता है, तब इसे यदि कभी दो तीन छोटे २ गांवोंका ही स्वामीपन मिल जाता है, तो अपने तुच्छ अभिप्रायोंके कारण यह समझ

बैठता है कि, मैं चक्रवर्ती हो गया हूं। यदि कभी किसी खेतके एक टुकड़ेका मालिक हो जाता है, तो जानता है कि मैं महामांडलिक राजा हो गया हूं। कभी कोई व्यभिचारिणी कुलटा स्त्री मिल जाती है, तो उसे देवांगना समझ लेता है। कभी अपने किसी २ अंगके बिलकुल बेडौल होनेपर भी आपको कामदेव सरीखा सुन्दर मानता है। कभी चांडालोंके मुहल्ले सरीखे अपने परिवारके लोगोंको इंद्रके परिजनोंके समान मान लेता है। कभी तीन चार हजार, तीन चार सौ, अथवा तीन चार बीसी रुपयोंके लाभको ही समझ लेता है कि मै कोट्याधीश हो गया हूं। कभी पांच छह द्राणे (३२ सेर वजनका माप) धान्यके पैदा हो जानेको कुबेरकी सम्पत्तिके समान मान लेता है। कभी अपने कुटुम्बके भरणपोषणको ही महाराज्यका पा लेना समझता है। कभी केवल अपने कठिनाईसे भरे जानेवाले पेटके भर लेनेको ही बड़ा भारी उत्सव मान लेता है। कभी भीखके मिल जानेको ही जीवनका मिल जाना निश्चय कर लेता है। और कभी शब्दादि विषयोंके भोगनेमें लवलीन हुए किसी राजाको अथवा अन्य किसी भाग्यवान् पुरुषको देखता है, तो "यह इन्द्र है, यह देव है, यह वन्दनीय है, यह पुण्यवान है, यह महात्मा है, यदि इसके सरीखे विषय मुझको प्राप्त होवें, तो मै भी उन्हे भोगू।" इस प्रकार चिन्ता करता हुआ व्यर्थ ही क्लेश करता है।

फिर इन विचारोंसे विडम्बित हुआ जीव उक्त विषयोंकी प्राप्तिके लिये राजाओंकी सेवा करता है, उनकी उपासना करता है, सदा नम्रता प्रगट करता है, उनके अनुकूल उन्हीं जैसा बोलता है अर्थात् 'जी हां जी हां' किया करता है, स्वयं चाहे दुखी हो, परन्तु उनके हंसनेपर हँसता है, निज पुत्रके उत्पन्न होनेसे आपको चाहे अतिशय

आनन्द हुआ हो, परन्तु उनके रोनेपर रोता है, अपने चाहे शत्रु हों, पर राजाके प्यारे हों, तो उनकी प्रशंसा करता है, इसी प्रकार अपने मित्रकी भी यदि वह राजाका वैरी हो, तो निन्दा करता है, रातदिन आगे २ दौड़ता है, स्वयं थकामांदा हो, तो भी उनकी पगचंपी करता है, अपवित्र स्थानोंको धोता है, उनके कहनेसे सारे नीच कर्म करता है, यमराजके मुंहके समान युद्धके मुंहमें प्रवेश करता है, तरवार आदि हथियारोंके घावोंके सहन करनेको अपना वक्षःस्थल समर्पण कर देता है, और इस तरह धनकी इच्छा करनेवाला यह रंक जीव मनोरथ पूर्ण किये विना ही मर जाता है।

कभी यह खेती करनेका आरंभ करता है, तो उसके कारण रातदिन खेदित होता है, हल जोतता है, जंगलमें रहकर पशुजीवनका अनुभवन करता है, अर्थात् पशुओंके समान जिन्दगी बिताता है नानाप्रकारके प्राणियोंका घात करता है, पानीके नही वरसनेसे संताप करता है और बीजके नाश हो जानेसे दुखी होता है।

कभी व्यापार आरभ करता है, तो उसमें झूठ बोलता है, विश्वास करनेवाले भोले लोगोंको लूटता है, देशान्तरोंको जाता है, शीतका कष्ट भोगता है, धूपकी गर्मी सहता है, भूखों मरता है, प्यासको नहीं गिनता है, भय और परिश्रमजन्य सैकड़ों दुःखोंका अनुभव करता है, अतिशय भयानक समुद्रोंमें प्रवेश करता है, और उसमें जहाजके फट जाने अथवा टूट जानेसे डूबकर जलचर जीवोंका भोजन बन जाता है। कभी पर्वतोंकी कन्दराओंमें फिरता है, असुरोंकी गुहाओंमें जाता है, और रसकूपिकाओंका शोध करता है, जिससे कि उनके रक्षक राक्षस उसका भक्षण कर जाते है। कभी और भी बड़ा साहस करता है—रातको स्मशानोंमें जाता है, मरे हुए मनुष्योंके

शरीरोंको उठाता है, और उनके मांसको विखराता है, इस तरह नीच जातिके वेतालोंको (प्रेतोंको) साधता है, और उनके क्रोधित होनेपर अन्तमें मारा जाता है । कभी खन्यवाद अर्थात् खनिज-विद्याका अभ्यास करता है, और उससे धनके लक्षणोंवाली भूमिका निरीक्षण करता है, यदि कहीं कुछ मिल जाता है, तो उसको देखते ही संतुष्ट होता है, उसके ग्रहण करनेके लिये रातको जीवोंकी बलि देता है, परन्तु जब उस धनके हंडेमें जलते कोयले भरे हुए पाता है, तो बहुत ही दुखी होता है । कभी धातुवादका अनुशीलन वा अभ्यास करता है, धातुवादियोंकी भेंट करता है–सुश्रूषा करता है, उनके उपदेशको ग्रहण करता है, बहुतसी जड़ी बूटियोंको एकत्र करता है, धातुओंकी मिट्टी (धाऊ) लाता है, पारेको समीप रखता है, उसके जारण (जलाना), चारण (उड़ाना) और मारण करनेमें कष्ट पाता है, रातदिन धोंकता है, घड़ी घड़ीमें चिल्लाता है, पीले तथा सफेद होनेकी थोड़ीसी भी सिद्धि देखकर हर्षित होता है, रातदिन आशाके लड्डु खाता है, और इस क्रियामें अपने पास जो थोड़ा बहुत धन बचा हुआ होता है, उसको भी खर्च कर देता है, और अन्तमें जब यह सोना चांदी बनाना सिद्ध नहीं होता है, तब इसके विभ्रमसे अथवा पागलपनसे मर जाता है।

कभी विषयभोगोंकी प्राप्ति हो सके, इसलिये यह जीव धन चाहता है और उसके लिये चोरी करता है, जूआ खेलता है, यक्षिणीकी आराधना करता है, मंत्रोंका जपन करता है, ज्योतिषकी गणना करता है, निमित्त मिलाता है, लोगोंके चित्तोंका आकर्षण करता है, और सारी कलाओंका अभ्यास करता है; अधिक कहनेसे क्या ऐसा कोई कार्य नहीं है, जिसे धनके लिये यह जीव नहीं करता है, ऐसा

कोई वचन नहीं है जिसे यह नहीं बोलता है, और ऐसा कोई कार्य संभव नहीं है, जिसे यह नहीं विचारता है। इस प्रकार धनके लिये इधर उधर निरन्तर भ्रमण करता हुआ भी यह पूर्वपुण्यरहित जीव जितना धन चाहता है, उसमेंसे तिल तुष मात्रका तीसरा हिस्सा भी नहीं पा सकता है। केवल अपने चित्तके संतापको, आर्तरौद्र ध्यानके कारण गुरुतर (अधिक स्थितिवाले) कर्मोंको और उनके द्वारा अपनी दुर्गतिको बढ़ाता है।

यदि कभी पूर्वजन्मका किया हुआ कुछ पुण्य होता है, तो उसके उदयसे यह जीव हजार दश हजार लाख दश लाख रुपया, अथवा प्यारी स्त्री, अथवा अपने शरीरकी सुन्दरता, अथवा विनयवान कुटुम्ब, अथवा धान्यका संग्रह, अथवा दो चार गांवोंका स्वामीपन, अथवा थोड़ा बहुत राज्यादि प्राप्त लेता है। और तब जिस प्रकार वह भिखारी जरासे कदन्नको पाकर गर्वमें आगया था, उसी प्रकारसे यह जीव भी मतवाला हो जाता है और मदरूपी सन्निपातसे ग्रसित होनेके कारण किसीकी प्रार्थना नहीं सुनता है, दूसरे लोगोंकी ओर देखता नहीं है, गर्दनको झुकाता नहीं है, मीठे वचन बोलता नहीं है, विना ही समयके आंखें मींचता है—ऊंघता है, और गुरुओंका अपमान करता है। अतएव इस प्रकारके ओछे अभिप्रायोंसे जिसका निजस्वरूप नष्ट हो गया है ऐसा यह जीव, सम्यग्ज्ञानादि रत्नोंसे भरपूर होनेके कारण जो परम ऐश्वर्यशाली है, ऐसे ज्ञानी मुनिराजोंको क्षुद्र भिखारीसे भी अधम क्यों न प्रतिभासित होवे? होना ही चाहिये।

और जब यह जीव पशु शरीरको तथा नरकायुको धारण करता है, तब तो भिखारीकी भी उपमाको लंघन कर जाता है अर्थात् भिखा-

रीसे भी नीच प्रतीत होता है । क्यों कि जिनके विवेकरूपी धन है, ऐसे महर्षियोंको जब महा ऋद्धियोंके धारण करनेवाले, अतिशय कान्तिवाले, अनुपम विषयभोगोंके भोगनेवाले और बड़ी २ लम्बी अवस्थाओंवाले इन्द्रादिदेव ही यदि वे सम्यग्दर्शनादि रत्नोंसे रहित हों, तो अतिशय दरिद्री और विजलीके विलास सदृश क्षणभंगुर जीवनक धारण करनेवाले जान पड़ते है, तब फिर दूसरे संसाररूपी उदरकी गुफामें रहनेवाले क्षुद्र जीवोंकी तो बात ही क्या है ? अर्थात् वे तो अतिशय दरिद्री है ही ।

जैसे वह निष्पुण्यक लोगोंसे अनादरपूर्वक पाये हुए उस घिनौने भोजनको खाते समय यह शंका किया करता था कि, "कोई बलवान् इसे छीन न ले जावे" उसी प्रकारसे यह महामोहसे मारा हुआ जीव भी जब अनेक क्लेशोंसे उपार्जन किये हुए धन तथा स्त्री आदि दूसरे भोगोंको भोगता है, तब चोरोंसे डरता है, राजाओंके आकस्मिक भयोंसे भयभीत रहता है, दायादोंके (हिस्सेदारोंके) भयसे कांपता रहता है, याचकोंके कारण उद्वेजित रहता है—उनसे पीछा छुटाना चाहता है और अधिक कहनेसे क्या यह जिन्हें किसी भी पदार्थकी वांछा नहीं रहती है, ऐसे अत्यन्त निष्पृह मुनियोंकी ओरसे भी शंकित रहता है। वह समझता है कि, ये उपदेशरूप वचनोंके घटाटोपसे ठगकर मुझसे मेरी यह धनादि सामग्री लेना चाहते हैं। इस प्रकार अतिशय मूर्च्छारूप (इच्छारूप) विषयसे अभिभूत होकर यह सोचता है कि, मेरे ये धनादि पदार्थ अग्निसे जल जावेंगे, नदीके प्रवाहमें बह जावेंगे, चोरादि इन्हें हर ले जावेंगे, इसलिये इन्हें सुरक्षित करना चाहिये। और फिर किसी भी पुरुषका भरोसा नही होनेके कारण यह अकेला ही रातको उठकर भूमिमें बहुत गहरा गड्ढा खोदकर और विना किसी प्रकारका

शब्द किये हुए जाकर उसमें अपनी सम्पतिको गढ़ाता है, फिर उस गढ्ढेको पूरकर जमीनको बराबर कर देता है, तथा ऊपर धूल कचड़ा आदि डाल देता है। इस तरह कोई मनुष्य जान न सके, ऐसी सावधानीसे यह कार्य सम्पादन करता है। परन्तु तत्काल ही यह विचार करके कि, कहीं मै स्वयं ही इसे नहीं पहिचान सका तो? उस स्थानपर नानाप्रकारके चिन्ह कर देता है। दूसरे कार्योंके लिये उस स्थानपरसे जाते हुए लोगोंकी ओर बारबार देखता है और यदि कभी किसी मनुष्यकी दृष्टि उस ओर जाती है, तो डर जाता है और "हाय! इसने तो जान लिया," ऐसा समझकर तीव्र मोहसे जलता हुआ रातभर नींद नहीं लेता है। बीचमें ही उठकर उस स्थानपर जाता है, उस धनको खोदकर निकाल लेता है और दूसरे किसी स्थानमें फिर गढ़ा देता है। उस समय भयके मारे चारों दिशाओंकी ओर अपनी दृष्टिको फेंकता जाता है (कि, कहीं कोई देखता तो नहीं है) और मुझे कोई देख लेगा, इस चिन्ताके कारण वह जो दूसरी हलन चलनादि क्रियाएं करता है, वे भी केवल शरीरसे करता है। क्योंकि मन तो धनके बंधनमें ऐसा जकड़ा हुआ होता है कि, उस स्थानसे दूसरे स्थानको एक पैर भी नहीं चल सकता है। इस प्रकार सैकड़ों उपायोंसे रखाया हुआ भी वह द्रव्य कोई न कोई देख लेता है, और निकाल ले जाता है। तब विना समयके वज्र पड़नेसे जैसे किसीका शरीर दलित हो जाता है, उसके समान होकर 'हाय माता! हाय पिता! हाय भाई!' इसप्रकार बिललाता हुआ सारे ज्ञानी जनोंके चित्तोंको दयासे व्याप्त कर देता है। अथवा अतिमूर्च्छारूप व्याघ्रके भक्षण किये जानेसे अर्थात् शोकके कारण अतिशय मूर्छित हो जानेसे मर जाता है।

इस प्रकार थोड़ेसे धनमें जिनके चित्तकी वृत्तियां उलझी हुई रहती हैं, उनकी चेष्टाओंका संक्षेपरूप वर्णन किया।

इसी प्रकारसे जब इस जीवको अपनी स्त्रीकी रक्षा करनेरूप ग्रह ग्रसित करता है, और ईर्षारूप शल्य जब इसके हृदयमें चुभती है, तब दूसरा कोई मेरी स्त्रीको देख नहीं लेवे, ऐसी दृष्टि रखता हुआ घरसे बाहर नहीं निकलता है, रातको सोता नहीं है, माता पिताको छोड़ देता है, कुटुंबीजनोंके स्नेहको शिथिल कर देता है, अपने प्यारेसे भी प्यारे मित्रको घरमें नहीं आने देता है, धर्मकार्योंका निरादर करने लगता है, लोग निंदा करेंगे, इसकी कुछ परवाह नहीं करता है, केवल उसीके मुंहको निरन्तर देखा करता है, और उसीको परमात्माकी मूर्ति मानकर योगीके समान सारे व्यापारोंको छोड़कर ध्यान किया करता है। वह जो कुछ करती है, उसीको सुंदर मानता है, जो कुछ वह बोलती है, उसीको आनन्दकारी मानता है, वह जो कुछ विचार करती है, उसीको उसकी चेष्टाओंसे जानकर पूर्ण करने योग्य समझता है। फिर मोहसे विडम्बित होकर सोचता है कि, यह मुझपर प्यार करती है, मेरा हित चाहने वाली है, संसारमें इसके समान सुंदरता, उदारता, और सौभाग्यादि गुणोंसे सुंदर स्त्री और कोई नहीं है।

यदि कभी कोई परपुरुष माता समझकर, बहिन मानकर और देवी जानकर ही उसकी ओर देखता है, तो भी यह जीव मोहके वा मूर्खताके कारण अतिशय क्रोधित, विव्हलचित्त, मूर्च्छित और मरते पुरुषके समान क्या करना चाहिये, इसका विचार नहीं कर सकता है। और यदि कभी उस स्त्रीसे वियोग हो जाता है, अथवा वह मर जाती है, तो यह रोता है, विलखता है, अथवा मर भी जाता है। यदि कभी दुःशीलताके कारण वह परपुरुषगामिनी वा व्यभिचारिणी हो जाती है, अथवा राजा आदि दूसरे पुरुष उसे बलपूर्वक छीन लेते

हैं, तो यह महामोहमें विह्वल होकर जब तक जीता है, तब तक हृदयकी ज्वालासे जलता रहता है अथवा अधिक दुःख होनेसे प्राणोंको ही छोड़ देता है। इस तरह एक एक वस्तुके प्रेममें उलझा हुआ जीव अनेकानेक दुःख पाता है, तो भी विपरीतश्रद्धान वा मिथ्यात्वके कारण उन वस्तुओंकी रक्षा करनेमें चित्तको लगाये हुए निरन्तर ऐसी शंका किया करता है कि, मेरी इस वस्तुको कोई हरण कर ले जायगा।

और जैसा पहले कहा है कि, "उस बुरे भोजनसे पेट भर जानेपर भी भिखारीको संतोष नहीं होता था बल्कि क्षण क्षणमें उलटी भूख बढ़ती थी।" उसी प्रकारसे धन, विषय, स्त्रीआदिरूप बुरे भोजनसे पूरी करनेपर भी इस जीवकी अभिलाषाका नाश नहीं होता है, बल्कि उसकी तृष्णा और भी अधिक बढ़ती है। जैसे, कभी सौ रुपया मिल जाते हैं, तो हजारकी चाह होती है। उतने भी हो जाते है, तो लाखकी इच्छा होती है। उसकी भी प्राप्ति हो जाने पर करोड़की और फिर उसके प्राप्त होनेपर राज्यकी वांछा होती है। जब राजा हो जाता है, तब चक्रवर्ती होनेकी चेष्टा करता है, और चक्रवर्ती हो जानेपर देव होना चाहता है। जब देव हो जाता है, तब इन्द्रपदकी वांछा करता है और पहले दूसरे स्वर्गका इन्द्र हो जानेपर भी उत्तरोत्तर कल्पस्वर्गोंके स्वामीपनकी प्याससे पागलसा बना रहता है। इस प्रकारसे इस जीवके मनोरथोंकी कभी पूर्ति ही नहीं होती है[1]। जैसे कठिन गर्मीके दिनोंमें चारों ओरकी दावानलकी

---

१ उक्तं च केनचित्कविना—

इच्छति शती सहस्रं ससहस्रः कोटिमीहते कर्त्तुम्।
कोटियुतोऽपि नृपत्वं नृपोऽपि बत चक्रवर्तित्वं ॥ १ ॥

दाहसे जिसका शरीर झुलस गया है और अतिशय प्यासकी व्याकुलतासे जो मूर्छित होकर गिर पड़ा हो, ऐसे किसी पथिकको वहीं-पर (मूर्छित अवस्थामें) स्वप्न आ जावे और उसमें उसे प्रबल जलतरंगोंसे आकुलित अनेक जलाशयोंका पानी पी रहा हूं, ऐसा दिखलाई देवे, तो भी उसकी प्यास जरा भी कम नही होती है, उसी प्रकारसे इस जीवकी आशा—प्यास भी धन विषयादिकोंसे कम नहीं होती है। अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवने देवोंकी पर्यायोंमें इन्द्रियोंके अनुपम शब्द रस गंधादि विषय अनन्त बार भोगे, अनन्त अमूल्य रत्न प्राप्त किये, कामदेवकी स्त्री रतिके विलासोंका भी तिरस्कार करनेवाली विलासिनी देवाङ्गनाओंके साथ विलास किया, और स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल लोककी सबसे सुन्दर क्रीड़ाओंका भी उल्लंघन करनेवाली नानाप्रकारकी मनोहर क्रीड़ाएं की। तो भी अत्यन्त भूखके कारण घुसे हुए पेटवाले दरिद्रीकी नाई यह जीव उन दिनों भोगे हुए विषयोंका वृत्तान्त जरा भी नही जानता है—भूल जाता है, केवल उनकी अभिलाषाओंके संतापसे सूखा करता है।

और पहले जो कहा है कि, "उस भिखारीको लोलुपतासे खाया हुआ वह भीखका भोजन अजीर्ण करता है और जब पच जाता है, तब वात विशूचिका आदि रोग उत्पन्न करके उसे दुखी करता है।" सो इस तरहसे घटित करना चाहिये कि, जब यह राग-द्वेषादि विकारोंसे घिरा हुआ जीव कुभोजनके समान धन—विषय—स्त्री आदि ग्रहण करता है, तब इसे कर्मसंचय वा कर्मबंधनरूप अजीर्ण होता है और जब यह उदय द्वारसे उसे पचाता है अर्थात् कर्मोंको उदय द्वारमें लाता है, तब वे कर्म नरक, तिर्यंच, मनुष्य

चक्रधरोऽपि सुरत्व सुरोऽपि सुरराज्यमीहते कर्तुम्।
सुरराजोप्यूर्ध्वगतिं तथापि न निवर्तते तृष्णा ॥ २ ॥

आर देव गतियोंमें भ्रमण करनेरूप वातविशूचिका आदि रोग उत्पन्न करके इस जीवको बहुत ही दुखी करते हैं। और उस भिखारीके भोजनको जिस प्रकार सारे (नये) रोगोंका कारण और पहले उत्पन्न हुए रोगोंका बढ़ानेवाला कहा है, उसी प्रकारसे इस रागी जीवके भोगे हुए जो विषय आदि हैं, उन्हें पहले कहे हुए महामोह आदि सारे रोगोंके उत्पन्न करनेके तथा पहलेके रोगोंके बढ़ानेके कारण समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि, विषयोंके भोगनेसे नये कर्म बँधते है तथा पुराने बाँधे हुए कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग (रस) बढ़ता और उन कर्मोंसे राग–द्वेष–मोहआदि रोग होते तथा बढ़ते हैं।

और जैसा पहले कहा गया है कि, "वह दरिद्री उसी कुभोजनको अच्छा मानता है, तथा अच्छे स्वादिष्ट भोजनका स्वाद तो बेचारेको स्वप्नमें भी कभी नहीं मिला है।" उसी प्रकारसे इस जीवकी चित्तवृत्ति महामोहसे ग्रसित है, इसलिये यह ऊपर कहे हुए सारे दोषोंसे दूषित धनविषयादिको अतिशय सुन्दर और अपना हितकारी मानता है और जो स्वाधीन, परलोकमें सुख देनेवाला, अपरिमित आनन्दका करनेवाला, और अतिशय कल्याणकारी, सम्यक्चारित्ररूप खीरका भोजन है, उसे यह बेचारा जिसके कि महामोहरूपी निद्रासे विवेकरूपी नेत्र बन्द हो गये हैं, कभी प्राप्त नहीं करता है।

जिसके प्रारंभका कुछ पता नहीं है, ऐसे इस संसारके परिभ्रमणमें यदि इस जीवने कभी सम्यक्चारित्र पाया होता, तो इसे सारे क्लेशोंके नष्ट करनेवाले मोक्षकी प्राप्ति अवश्य ही हुई होती, इतने समय तक संसारवनमें नहीं भटकना पड़ता। परन्तु यह तो अभीतक भ्रमण करता है। इससे निश्चय होता है कि, मेरे जीवने सम्यक्चारित्ररूप सुन्दर भोजन कभी नहीं पाया है।

और पहले कहा है कि, "वह भिखारी उस अदृष्टमूलपर्यन्त नगरके ऊंचे नीचे घरोंमें, तिराहों चौराहों तथा आंगनोंमें और नानाप्रकारकी गलियोंमें निरन्तर बिना थकावटके भ्रमण करता हुआ अनन्त वार घूमा है।" सो इस जीवके विषयमें भी वैसा ही समझना चाहिये। क्योंकि काल अनादि है, इसलिये इस जीवने भी भ्रमण करते हुए अनन्त पुद्गलपरावर्तन[1] पूर्ण कर डाले हैं (और इस बीचमें इसने ऊंचे नीचे गोत्रोंमें नाना गतियोंमें और अनेक योनियोंमें अनन्त वार भ्रमण किया है।) और जैसे वहां कहा है कि, "उस भ्रमण करते हुए दरिद्रीका उस नगरमें न जाने कितना समय बीत गया है" उसी प्रकारसे इस जीवको संसारमें भ्रमण करते हुए कितना काल बीत गया है, इसकी गिनती इन्द्रियज्ञानके गोचर नहीं है—अर्थात् बीते हुए समयकी गणना नहीं हो सकती है। काल अनादि है, इसलिये उसका माप नहीं हो सकता है।

इस प्रकारसे संसाररूप नगरमें यह मेरा भिखारीरूप जीव कुविकल्प कुतर्क कुतीर्थरूप उपद्रवी तथा दुर्दमनीय लड़कोंके द्वारा अपने तत्त्वोंके सन्मुख होनेवाली वृत्तिरूपी देहमें विपर्यय (मिथ्यात्व) करनेरूप ताड़नाओंसे क्षणक्षणमें चोटें खाता हुआ महामोहादिरूप रोगोंसे ग्रसित होता है और उनके कारण नरकादि पीड़ा देनेवाले स्थानोंमें बड़ी भारी पीड़ाके होनेसे स्वरूपभ्रष्ट हो जाता है। और इसलिये जिनके चित्त विवेकबुद्धिसे निर्मल हो रहे हैं, उनको इसपर दया आती है। आगे पीछेका विचार नहीं कर सकनेके कारण

---

१ अनतानत पुद्गलोंको क्रमसे अनत वार ग्रहण करना और छोडना इसको एक पुद्गलपरावर्तन वा द्रव्यपरावर्तन कहते हैं। जीवने ऐसे २ अनन्त परावर्तन किये हैं।

यह तत्त्वज्ञानसे बहुत दूर रहता है, इस लिये सब जीवोंसे अतिशय जघन्य अर्थात् नीचा है, और नीचा वा तुच्छ होनेके कारण धन विषयादिरूप कुभोजनकी झूठी आशाकी फाँसीमें उलझा रहता है और कभी थोड़ासा भी लाभ हो जानेसे संतुष्टसा हो जाता है, परंतु फिर भी तृप्त नहीं होता है। उसके उपार्जनमें, बढ़ानेमें, और रखवाली करनेमें अपने चित्तको लगाये रहता है और उससे सघन तथा बड़ी भारी स्थितिवाले आठ प्रकारके कर्मोंका हानिकारक अपथ्य पाथेय[1] बाँधता है, जिसका कि उपभोग करनेसे बढ़ते हुए रागादि रोगोंसे पीड़ित होता है। इतनेपर भी विपर्यस्तचित्त (मिथ्याती) होनेके कारण उसीको निरन्तर भोगता है और सम्यक्चारित्ररूप खीरके भोजनका स्वाद न पाकर अरहटकी[2] (रहँटकी) घड़ियोंके समान सम्पूर्ण योनियोंमें जन्म धारण कर करके अनन्त पुद्गलपरावर्तनरूप भ्रमण करता है। (अभीतक भिखारी और जीवकी समानताके विषयमें जो कुछ कहा गया है, उसका यह सारांश है।)

अब आगे इस जीवका क्या हुआ, सो कहते हैं:—

सूचना—इस कथाका सम्बन्ध भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों कालोंसे है। इसलिये इस सारे ग्रन्थमें कहनेवालेकी इच्छाके अनुसार तीनों ही कालोंका ज्ञान करानेवाले प्रत्ययोंका प्रयोग किया गया है, अर्थात् जहां जिस कालसम्बन्धी प्रत्ययकी आवश्यकता समझी गई है, वहां वही प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है, सो उचित समझना चाहिये।

---

१ कलेवा-मुसाफिरीमें खाया जानेवाला भोजन। २ अरहट यत्रमें जो घडियां लगी हुई रहती हैं, उनमेंसे जब ऊपरकी एक खाली होती है, तब नीचेकी एक भर जाती है। इसी प्रकारसे जीव एक शरीर छोड़ता है और दूसरा धारण करता है।

क्यों कि जैसे कहनेवालेकी इच्छाके अनुसार एक ही प्रकारकी वस्तुओंमें उन वस्तुओंकी स्थितिके अनुसार कारक[1] अनेक प्रकारसे प्रयोग किया जाता है, वैसे ही काल भी किया जाता है। ऐसा अनेक स्थानोंमें देखा है, और इसे व्याकरणशास्त्रके जाननेवाले भी ठीक समझते हैं। जैसे पटनाके जानेका जो रास्ता है, उसमें एक कुआ 'था' 'पहले हुआ' 'अब हुआ' 'होगा' और 'कल होगा' ये सब कालके रूप एक ही कुवाके विषयमें दिये गये हैं, परन्तु जुदी २ विविक्षासे सब ठीक हैं। इस विषयमें और अधिक कहना अनावश्यक है।

उस[2] नगरमें अपने स्वभावसे ही सब प्राणियोंपर गो-वत्स सरीखी प्रीति रखनेवाले और प्रख्यातकीर्ति जो सुस्थित नामके महाराजा बतलाये गये हैं, सो इस संसारनगरमें परमात्मा–जिनेश्वर–सर्वज्ञ भगवान्को समझना चाहिये। क्योंकि दुःखोंका नाश हो जानेसे, अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य प्रगट होनेसे, तथा उपमारहित स्वाधीन और अतिशय आनन्दस्वरूप होनेसे वास्तवमें वे ही सुस्थित हो सकते हैं। अज्ञान आदि क्लेशोंके वशवर्ती जो दूसरे देवआदि है, वे अत्यन्त दुःस्थित रहते है,–आकुलता सहित रहते है, इसलिये 'सुस्थित' नहीं हो सकते है। वे ही भगवान् सारे जीवोंकी रक्षा करनेका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचारयुक्त उपदेश देते है, तथा प्रशंसनीय मोक्षको प्राप्त करा देनेमें तत्पर रहनेवाले शास्त्रोंकी रचना करते हैं, इसलिये स्वभावसे ही अतिशय वत्सलहृदय हैं। और वे ही सम्पूर्ण देवों तथा मनुष्योंके नायक इन्द्र और चक्रवर्ती आदिके द्वारा प्रख्यातकीर्त्ति

---

१ **विविक्षानुसारेण कारकप्रवृत्तिः** (सिद्धान्तकौमुदी)

२ इस कथनका सम्बन्ध पृष्ठ १८ के दूसरे पारिग्राफसे है।

हैं–अर्थात् उनकी कीर्तिका इन्द्र आदि बखान करते हैं। क्योंकि वे इन्द्र चक्रवर्ती आदि सब शुभ मन वचन कायकी क्रियामें तत्पर रहकर निरन्तर उनकी स्तुति किया करते है। इसीलिये सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव 'महाराज' शब्दको धारण करनेके योग्य हैं।

"एक दिन वह भिखारी घूमता घामता किसी प्रकारसे उस राजमहलके द्वारपर पहुंच गया और वहां जो 'स्वकर्मविवर' नामका द्वारपाल बैठता था, उसने कृपा करके उसे भीतर चला जाने दिया।" ऐसा जो कहा गया है, सो इस प्रकारसे योजित करना चाहिये कि:– जब यह जीव 'घर्षणघूर्णन' न्यायसे अर्थात् जिस तरह नदीमें पत्थर घिसता २ घूमता २ गोल हो जाता है, उस तरह किसी समय काललब्धि पाकर, यथाप्रवृत्तकरण (अधःप्रवृत्त नामक परिणाम) करता है, उस समय आयुकर्मके सिवाय अन्य सातों कर्मोंकी उत्कृष्ट[1] स्थिति २३० कोड़ाकोड़ी सागरमेंसे अन्तकी एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिको छोड़ कर शेष सब २२९ कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिको क्षय कर देता है। फिर उसमें से (एक कोड़ाकोड़ी सागरमेंसे) भी जब कुछ स्थिति क्षीण हो जाती है, तब यह जीव उस परमात्मा महाराजके आचारांगादि द्वादशागपरमागमरूप मन्दिरके अथवा उस परमागमके धारण करनेवाले चतुर्विधसंघरूप मन्दिरके द्वारपर पहुचता है। वहांपर प्रवेश करनेमें तत्पर, और अपने नामके अनुसार गुण रखनेवाला स्वकर्मविवर नामका द्वारपाल है। 'स्वकर्म'

---

१ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तरायकी तीस २ कोडाकोडी सागरकी, नाम और गोत्रकी बीस २ कोड़ाकोडी सागरकी और मोहनीयकी ७० कोड़ाकोडी सागरकी स्थिति है। इस तरह सब मिलाकर २३० कोडाकोडी सागरकी स्थिति है।

का अर्थ 'अपने कर्म' होता है और 'विवर'का 'विच्छेद' वा 'नाश' होता है। अतएव अपने कर्मोंका विच्छेद ही उस मन्दिरके भीतर जाने देनेवाला यथार्थ द्वारपाल हो सकता है। यद्यपि उस मन्दिरके द्वारपर राग द्वेष मोह आदि और भी बहुतसे द्वारपाल रहते हैं, परन्तु वे सब इस जीवके रोकनेवाले ही है, प्रवेश करानेवाले नहीं है। उस द्वारपर यह जीव अनन्त वार पहुंचा है, परन्तु उन्होंने इसे बराबर रोका है, कभी भीतर नहीं जाने दिया है। यद्यपि कभी २ वे राग द्वेष मोह आदि द्वारपाल भी जीवको भीतर जाने देते हैं, परन्तु उनके द्वारा भीतर पहुंचा हुआ जीव यथार्थमें पहुंचा हुआ नहीं हो सकता है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यद्यपि राग द्वेष मोह आदिसे व्याकुल रहनेवाले अनेक जीव कभी २ यति श्रावक आदिके चिह्नोंको धारण कर लेते हैं, परन्तु वास्तवमें उन्हें सर्वज्ञशासन मन्दिरसे बहिर्भूत ही समझना चाहिये। अर्थात् यति श्रावक होकर भी वे मोक्षमार्गको नहीं पा सकते हैं। इसके पश्चात् स्वकर्मविवर द्वारपाल उस राजमहलकी भूमितक पहुंचे हुए जीवको ग्रन्थिभेद कराके अर्थात् मिथ्यात्वको छुड़ाकर सर्वज्ञशासनरूप मन्दिरमें प्रवेश कराता है, इस प्रकारसे युक्त समझना चाहिये।

आगे "भिखारीने उस अदृष्टपूर्व (जैसा पहले कभी नहीं देखा था), अनन्तविभूतिसम्पन्न, राजाओं मंत्रियों कामदारों कोटपालों वृद्धा स्त्रियों और सुभटोंसे भरे हुए, विलास करती हुई विलासिनी स्त्रियोंसे युक्त, उपमारहित शब्दगंधादि विषयोंके भोगनेसे सुन्दर और निरन्तर उत्सवमय राजभवनको देखा" ऐसा कहा है। उसी प्रकारसे यह जीव भी इस संसारनगरमें वज्रके समान दुर्भेद्य और जो पहले कभी छूटी नहीं थी, ऐसी कर्मोंकी क्लिष्ट ग्रन्थिको अ-

र्थात् मिथ्यात्वमोहनीय कर्मकी गांठको खोलता है और इसे स्वकर्म-विवर द्वारपाल सर्वज्ञशासनरूपी मन्दिरमें प्रवेश करता है। और तब यह ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण विशेषणोंसे युक्त राजमन्दिरको देखता है। अब पहले कहे हुए राजभवनके सब विशेषणोंको सर्वज्ञशासन-रूपी मंदिरमें घटित करते हैं:—

इस मौनींद्र शासनमें अर्थात् मुनिप्रणीत जैनधर्ममें अज्ञान अंध-कारके पटलोंको दूर करनेवाला, नानाप्रकारके रत्नोंकी आकृतियोंका धारण करनेवाला, और अपने शोभनीक निर्मल प्रकाशसे तीनों लोक-रूपी भवनको प्रकाशित करनेवाला '**केवलज्ञान**' दिखलाई देता है। और इस भगवत्प्रणीत प्रवचनमें आमर्ष, औषधि, आशीविष, आदि अनेक **ऋद्धियां** जिन्हें कि वे प्राप्त होती हैं, उन महामुनियोंके शरीरको शोभित करती है, इसलिये मनोहर माणियोंसे रचे हुए आ-भूषणोंकी निर्मलताको धारण करती हुई शोभायमान होती है। तथा इस जिनमतमें विचित्र २ प्रकारके बहुतसे वस्त्रों सरीखे बहुत प्रकारके **तप** अपनी अतिशय सुंदरताके कारण सुजनोंके हृदय अपनी ओर खींचते हैं। तथा इस परमेश्वरप्रणीत शासनमें उज्वल वस्त्रोंके चँदोवोंमें लटकी हुई मोतियोंकी चंचल झालरके रूपको धारण करनेवाले चारित्रके कारणरूप [1]**मूलगुण** और **उत्तरगुण** अतिशय आह्लादको उत्पन्न करते हैं। क्योंकि जिसप्रकार रचनासौंदर्यके योगसे अर्थात् सुंदररचनाके कारण मोतियोंकी झालरें चित्तको प्रसन्न करती हैं, उसी प्रकारसे रचनासौंदर्ययोगसे अर्थात् मन वचन कायकी शुभ प्रवृत्तिसे मूलगुण और उत्तरगुण आनंदित करते हैं।

ऐसे जैनदर्शनमें रहनेवाले भाग्यशाली प्राणियोंके मुखकी शो-भाको, सुगंधिकी अधिकताको, और चित्तके अतिशय आनन्दको

---

१ मुनियोंके २८ मूलगुण और ८४ लाख उत्तरगुण होते हैं।

उत्पन्न करनेवाला '**सत्यवचन**' उत्तम ताम्बूलके (पानके) समान है। तथा इस भगवतके मतमें मुनिरूपी भौरोंको प्रसन्न करनेके कारण तथा विचित्र प्रकारके भक्तिविन्याससे (रचनासे) गूंथे हुए होनेके कारण जो मनोहर फूलोंके हारोंके आकारको धारण करते हैं, ऐसे **शील**के अठारह हजार अंग अपनी सुगंधिकी अधिकतासे दशों दिशाओंको व्याप्त करते है। तथा इस परमेश्वरके मतमें गोशीर चन्दन आदि विलेपनोंके स्वरूपको धारण करनेवाला **सम्यग्दर्शन** मिथ्यात्व और कषायोंके संतापसे तप्त हुए भव्य जीवोंके शरीरोंको शान्त करता है। क्योंकि इस मतमें जो कि सर्वज्ञका कहा हुआ है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न जिसमें प्रधान है; जो जीव रहते हैं उन महाभाग्यशालियोंने नरकरूप अन्धकूपको ढँक दिया है, तिर्यंचगतिरूपी बन्दीगृहको (जैलको) तोड़ डाला है, कुमानुषगतिके (कुभोग भूमिके मनुष्योंके) दुःखोंको नष्ट कर दिया है, कुदेवोंकी पर्यायमें जो मानसिक दुःख होते हैं, उनका मर्दन कर डाला है, मिथ्यात्वरूपी बेतालका (प्रेतका) प्रलय कर दिया है, रागादि शत्रुओंको गतिहीन कर दिया है, कर्मोंके अजीर्णको प्रायः पचा डाला है, वृद्धावस्थाके विकारोंको विनाश कर दिया है, मृत्युके भयको नष्ट कर डाला है, और स्वर्ग तथा मोक्षके सुखोंको हस्तगत कर लिया है। अथवा उन भगवानके मतमें रहनेवाले जीवोंने सांसारिक सुखोंका तिरस्कार किया है, संसारका सारा प्रपंच हेयबुद्धिसे (त्यागभावसे) ग्रहण किया है। अर्थात् प्रपंच तो है, परन्तु उसमें प्रीतिभाव नहीं है। अपने अन्तःकरणको मोक्षके ध्यानमें ही एकतान (लवलीन) कर रक्खा है और उन्हें परमपदके (मोक्षके) पानेमें कुछ भी शंका नहीं रही है। क्योंकि वे जानते हैं कि, उपाय उपेयव्यभिचारी नहीं होता है। अर्थात् "जिसके लिये प्रयत्न

किया जाता है, उसको अवश्य ही मिला देता है। तथा वह उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकतारूप है जो कि परमपदके (मोक्षके) पानेका अन्यर्थ वा अचूक उपाय है और वह हमको मिल गया है। इसके सिवाय इस उपायका लाभ हो जानेपर उन्हें निश्चय हो गया है कि, इसे छोड़कर संसारमें दूसरी कोई भी वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं है, और ऐसा जानकर उनका चित्त अतिशय संतुष्ट हो गया है। उन्हें और कुछ भी इच्छा नहीं रही है।

अतएव उन परमेश्वरके मतमें रहनेवाले जीवोंको शोक नहीं होता है, दीनता नहीं होती है, उत्सुकताका लय हो जाता है, रतिका विकार नष्ट हो जाता है, जुगुप्सा जुगुप्साके (घृणाके) योग्य हो जाती है, चित्तमें उद्वेग नहीं होता है, तृष्णा बिलकुल अलग हो जाती है, और भयका जडसे क्षय हो जाता है। तब उनके मनमें क्या रहता है? धीरता रहती है, गभीरता निवास करती है, उदारता बहुत बलवती हो जाती है, और उत्कृष्ट स्थिरता होती है। इसके सिवाय स्वाभाविक प्रशम (शान्ति) सुखरूपी अमृतके निरन्तर आस्वादन करनेसे जिनका चित्त आनन्दित रहता है, ऐसे वे जीव प्रबल रागकी कलाओंसे (भेदोंसे) रहित है, तो भी उनके हृदयमें रति (शुभराग) अतिशय करके बढ़ती है, मदरूपी[1] रोग नष्ट हो गये है, तो भी उनके चित्तमें हर्ष रहता है, समवासी[2] चन्दनके सदृश हैं, तो भी उनके आनन्दका विच्छेद नहीं होता है।

---

१ मद शब्दका अर्थ हर्ष भी होता है। इसलिये यहांपर विरोध दिखलाया है कि, मदरहित (गर्वरहित) होकर भी मदसहित (हर्षसहित) है। २ चन्दनके समवासी अर्थात् पास रहनेवाले वृक्ष काट डाले जाते हैं। परन्तु यहां विरोध बतलाया है कि, समवासीचन्दन (चन्दनसदृश सुगंधित) होकर भी उन्हें कष्ट नहीं होता है। (विरोधाभास अलंकार)।

और जिनेन्द्रके शासनमें रहनेवाले भव्यजीव स्वाभाविक हर्षकी अधिकतासे प्रसन्न रहते हैं, इसलिये क्षण क्षणमें पांच प्रकारका स्वाध्याय करनेरूप गाना गाते हैं, आचार्यादिकोंका[3] दश प्रकार वैयावृत्य करनेरूप नृत्य करते हैं, जिनेन्द्रदेवके जन्माभिषेक, समवसरण, पूजन, यात्रा आदि शुभकार्य करनेरूप नाच कूद करते हैं, परधर्मके वादियोंके जीतनेमें पटुता दिखलाते हुए चित्तको आनन्दित करनेवाली सिंहनाद सरीखी गर्जना करते हैं, और किसी २ समय जिनभगवानके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण इन पांचों महा कल्याणकोंके प्रसंगपर आनन्दकारी मर्दल आदि बाजित्र बजाते है। यह मुनीन्द्रोंका शासन जो कि निरन्तर आनन्दमय और सारे संतापोंसे रहित है, इस जीवको उत्तम भावपूर्वक पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है। यह बात इसके संसारभ्रमणके सद्भावसे ही अच्छी तरहसे निश्चित होती है। यदि सर्वज्ञ शासनकी प्राप्ति हुई होती, तो इसे संसारमें नहीं भटकना पड़ता। और अच्छे परिणामपूर्वक यदि जिनशासनकी प्राप्ति हुई होती, तो इसका पहले ही मोक्ष हो जाता।

पूर्वोक्त कथामें जिस राजभवनका वर्णन किया गया है, उसके पहले दो विशेषण कहे गये है। उनमेंसे एक तो यह कि, वह अदृष्टपूर्व और अनन्तविभूतिसम्पन्न है, सो इस सर्वज्ञशासनरूप मन्दिरमें घटित करके दिखला दिया गया। अब जो दूसरा विशेषण यह है कि, वह राजभवन राजा, मंत्री, सुभट, नियुक्तक, कोटपाल आदि लोगोंसे भरा हुआ है, सो उसको इस प्रकारसे घटित करना चाहियेः—

भगवानके शासनमन्दिरमें राजाओंके स्थानमें **आचार्य** समझना चाहिये। क्योंकि अन्तरंगमें जलते हुए महातपके तेजसे उनके राग-

३ आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके साधुओकी सेवा करना दशप्रकारका वैयावृत्य है।

दिक शत्रु जल गये है और बाहिरी सब क्रियाएं शान्त हो जानेसे वे संसारको आनन्दित करनेवाले हैं तथा गुणरूपी रत्नोंसे भरे हुए लोकमें स्वामीपनकी योग्यता रखते हैं अर्थात् सबसे अधिक गुणी हैं, इसलिये उपमारहित 'राजा' शब्दके वाच्य है वा राजा कहलानेके योग्य है। और मंत्रियोंके स्थानमें **उपाध्यायोंको** जानना चाहिये। क्योंकि वे वीतराग भगवानके आगमोंका सार जानते हैं, इसलिये संसारके सारे व्यापारोंको साक्षात्‌के समान देखते हैं, बुद्धिसे रागादि वैरियोंके समूहको पहिचानते हैं, और रहस्यके (प्रायश्चित्तके) ग्रन्थोंमें भलीभाँति कुशल हैं, इसलिये उन्हें समस्त नीतिशास्त्रके ज्ञाता कहते हैं। और वे ही अपने सुबुद्धिरूपी धनसे सारे संसारको तौलते हैं, इसलिये सब प्रकारसे 'अमात्य' शब्दकी योग्यताको धारण करते हुए शोभते है।

कथाके राजभवनमें जो महायोधा कहे गये हैं, वे यहां **गीतार्थ वृषभ** हैं। क्योंकि चित्तमें सत्वभावनाकी भावना करते रहनेसे अर्थात् यह विचार करते रहनेसे कि जीवका कभी घात नहीं होता है, वह अजर अमर है, वे न देव आदिकोंके किये हुए उपसर्गोंमें चलायमान होते हैं न क्षुभित होते है, और न घोर परीषहोंसे डरते है। और तो क्या यदि यमराज सरीखे भयंकर उपद्रव करनेवालेको सम्मुख देखें, तो भी वे लवलेश भी नहीं डरते हैं। और द्रव्य क्षेत्र, कालके अनुसार चलनेवाले गच्छों कुलों और संघोंको परम्पराचारित्रके द्वारा मोक्ष प्राप्त करानेवाले है, इसलिये उन्हें महायोधा कहते हैं।

नियुक्तक अर्थात् कामदार यहां **गणचिन्तकोंको** समझना चाहिये। क्योंकि वे बालक, वृद्ध, रोगी, तथा अतिथि आदि अशक्त और पालन करने योग्य अनेक मुनियोंसे घिरे हुए रहते हैं, कुल गण

और संघस्वरूप होते हैं, अर्थात् कुलके गणके और संघके जुदे २ गणचिन्तक होते हैं, करोड़ों नगर और असंख्य ग्राम तथा खानि स्वरूप गच्छोंकी गीतार्थपनेसे उत्सर्ग तथा अपवाद मार्गकी स्थानयोजना करनेमें निपुण होते है, अर्थात् वे शास्त्रोंका मर्म भलीभांति जानते है, इसलिये किसीको उत्सर्ग मार्गमें और किसीको अपवाद मार्गमें लगा देते है और उन्हें प्रासुक तथा दोषरहित आहार, पानी, औषध, उपकरण (पिछी कमंडलु पुस्तक) उपाश्रय (वस्तिका) आदि सम्पादन कराके स्वयं निरन्तर निराकुल रहते हुए सबका पालन करनेमें समर्थ होते है। इन्हें सब प्रकारसे योग्य वा अनुकूल समझकर आचार्य महात्मा नियुक्त करते है, इसलिये ये ही नियुक्तक (कामदार) नामधारण करनेके योग्य हैं।

जिनशासनरूपी महलमें तलवर्गिक अर्थात् कोटपालोंके स्थानमें **सामान्यभिक्षुकोंके** (सर्वसाधुओंको) समझना चाहिये। क्योंकि वे आचार्योंकी आज्ञाका ध्यान देकर पालन करते है, उपाध्यायोंकी आज्ञा मानते है, गीतार्थ मुनियोंकी विनय करते है, गणचिन्तकोंकी बाँधी हुई सीमाका उल्लंघन नहीं करते है, गच्छ, कुल, गण, और संघके कार्योंमें आपको लगाते है और यदि गच्छ कुल आदिपर कोई अकल्याण करनेवाली विपत्ति आ पड़ती है, तो अपना जीवन देकर भी उनकी रक्षा करते हैं। इसलिये वे शूरता, भक्तता, विनीतता, नम्रता, आदि स्वभावोंसे कोटपाल नामके सर्वथा योग्य है।

इस प्रकारसे जो जिनशासनमन्दिर राजमंदिरके समान कहा गया है, आचार्य उसको अपनी आज्ञामें रखते हैं, उपाध्याय उसकी चिन्ता करते हैं, गीतार्थवृषभ रक्षा करते है, गणचिन्तक सब ओरसे पुष्टि करते हैं, और सामान्यसाधु निश्चिन्त होकर उसके सब कार्य करते है। अतएव इसे इन आचार्यादिकोंसे व्याप्त समझना चाहिये।

आगे राजमंदिरमें जो स्थविरा अर्थात् वृद्धास्त्रियां कही गई हैं, उन्हें जिनेन्द्रशासनमंदिरकी आर्याएं (अर्जिकाएँ) समझना चाहिये। पहले राजमंदिरकी स्थविराओंको उन्मत्त स्त्रियोंके निवारण करनेमें तत्पर और विषयवासनाओंसे रहित बतलाई है, सो उनके ये दोनों अनुपम गुण आर्यिकाओंमें भी घटित होते हैं। क्योंकि वे प्रमादके कारण विवश होकर धर्मकार्योंमें शिथिल रहनेवाली श्रावकोंकी स्त्रियोंको और अपनी शिष्याओंको अपने परोपकार करनेके व्यसनके कारण जो कि उन्हें हमेशासे पड़ा हुआ है भगवानके आगममें कहे हुए और महानिर्जराके करनेवाले सधर्मिवात्सल्यकी पालना करती हुई स्मारण (याद दिलाकर), वारण (रोककर), प्रेरण (कहकरके) और प्रतिप्रेरण (बार २ कहके) इन चार द्वारोंसे कुमार्गमें जानेसे बचाती हैं। और विषयरूपी विषके सेवन करनेका परिणाम कैसा बुरा होता है यह जानती है; इस लिये उन विषयोंसे चित्तको हटाकर संयममें रमण करती है, अनेक प्रकारके तपोंके साथ क्रीड़ा करती है, निरंतर स्वाध्याय करनेमें प्रसन्न रहती हैं, प्रमादोंका सेवन नहीं करती हैं और किसी प्रकारकी शंका किये विना आचार्योंकी आज्ञाका पालन करती है।

तथा पहले कहा है कि, "राजभवन सुभटोंसे खचाखच भर रहा है।" सो यहापर भगवानके शासनभवनमें श्रावकोंको सुभटसमूह समझना चाहिये। क्योंकि एक तो वे बहुत ज्यादा है, इसलिये सारे शासनमंदिरको व्याप्त किये रहते है। कारण देवोंमें असंख्यात, मनुष्योंमें संख्यात, तिर्यञ्चोंमें अनेक, और नरकोंमें बहुतसे श्रावक हैं। और दूसरे वे अपनी शूरता, उदारता, और गंभीरता आदि गुणोंसे जैनशासनके शत्रु मिथ्यातीजीवरूप योद्धाओंको पराजित

करनेमें चतुर होतें है; अतएव इस अनुपम प्रवृत्तिके कारण वे सुभट शब्दके योग्य है। वे निरंतर सर्वज्ञ महाराजका ध्यान करते हैं, आचार्यरूप राजाओंकी आराधना करते हैं, उपाध्यायरूप मंत्रियोंके उपेदशके अनुसार चलते है, गीतार्थवृषभरूप महायोधाओंके वचनोंको मानकर सम्पूर्ण धर्म कार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं, अपने आत्मापर अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे उन गणाचिन्तकोंको जो कि साधुओंका उपकार करनेमें लगे रहते है, और इस कारण जिन्हें नियुक्तकोंका (कामदारोंका) स्थान मिला है; वस्त्र, पात्र, भोजन, पानी, औषधि, आसन, साँथरा, वसतिका आदि निरन्तर विधिपूर्वक दिया करते है, तलवर्गिकोंके (कोटपालके) समान सम्पूर्ण ही सामान्य साधुओंको इसका विचार किये विना कि, कौन कबका दीक्षित है शुद्ध मन वचन कायसे नमस्कार करते हैं, स्थविराओंके समान अर्जिकाओंकी भक्तिपूर्ण हृदयसे बन्दना करते है, विलासिनी स्त्रियोंके समान बतलाई हुई श्राविकाओंको सारे धर्म कार्योंमें उत्साहित करते है, और भगवानका जन्माभिषेक, नन्दीश्वरद्वीपकी यात्रा, और मर्त्यलोक (ढाईद्वीप) सम्बन्धी दशलक्षण आदि पर्वोंकी यात्रारूप नित्य नैमित्तक कार्य भगवानके शासनरूप मन्दिरमें निरन्तर करते है। अधिक कहनेसे क्या? वे सर्वज्ञ भगवानके शासनको छोड़कर वास्तवमें न दूसरा कुछ देखते हैं, न सुनते हैं, न जानते हैं, न श्रद्धान करते हैं, न उन्हें अन्य कुछ रुचता है, और न वे अन्य किसीकी पालना करते है। केवल जैनशासनको ही कल्याणकारी मानते है। अतिशय भक्तिके कारण वे सर्वज्ञ महाराज तथा आचार्य महाराज आदिको बहुत प्यारे लगते हैं और इस लिये उन्हें उसी मन्दिरमें निवास करनेवाले विनयवान् तथा बड़ीभारी ऋद्धिके धारण करनेवाले एक बड़ेभारी कुटुम्बके समान समझना चाहिये। अन्य धर्मियोंका तो उस भवनमें निवास ही कहांसे हो सकता है?

और जैसे उस राजमंदिरमें विलासिनी स्त्रियां कही हैं, वैसे इस मुनिप्रणीत जिनशासनमें सम्यग्दर्शन धारण करनेमें अणुव्रतोंके[1] पालन करनेमें और जैन साधुओंकी भक्ति करनेमें तत्पर रहनेके कारण श्राविकाओंको विलासिनी स्त्रियां समझना चाहिये। श्रावकोंके समान ये श्राविकाएं भी सर्वज्ञ महाराजादिकी आराधनामें तत्पर रहती है, निरन्तर ज्ञानका अभ्यास करती है, सम्यग्दर्शनसे आत्माको अतिशय दृढ़ करती है, अणुव्रत धारण करती हैं, गुणव्रत[2] ग्रहण करती है, शिक्षाव्रतोंका[3] अभ्यास करती है, अनेक प्रकारके तप करती है, जैनग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेमें लवलीन रहती हैं, साधुओंको अपनी भलाई करनेवाला आहारदान देती हैं, गुरुओंके चरणोंकी बन्दना करके हर्षित होती हैं, अच्छे साधुओंको नमस्कार करके संतुष्ट होती है, साध्वियोंकी कही हुई धर्मकथाएं सुनकर प्रसन्न होती है, अपने सधर्मी जनोंको अपने भाई बंधुओंसे भी अधिक समझती है, जिस देशमें सधर्मी जन नहीं रहते है, वहां रहनेसे उदास रहती हैं, अतिथियों वा साधुओंको भोजन कराये विना भोजन करनेसे प्रसंन्न नहीं होती है और जिनेश्वर भगवानका धर्मसेवन करनेसे अपने आत्माको ससारसमुद्रसे प्रायः पार हुआ ही समझती हैं। अतएव उस जिनशासनरूपी मन्दिरके भीतर पूजा करनेवाले राजसेवकोंके समान ये श्राविकाएं पहले कहे हुए श्रावकोंके साथ प्रतिबद्ध[4] होकर अथवा उनसे पृथक्[5] होकर निवास करती हैं। और यदि कभी कोई स्त्रियां ऊपर कहे हुए गुणोंके विना ही उक्त शासनमंदिरके

१ अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। २ दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत। ३ सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग। ४ श्रावकोंकी स्त्रियां होकर पत्नी अवस्थामें। ५ कुमारी अथवा विधवा अवस्थामें।

भीतर बैठी हुई दिखलाई देवें, तो उन्हें वास्तवमें भीतर न समझकर बाहिर ही समझना चाहिये। क्योंकि यह भगवत्प्रणीत शासनमन्दिर भावसे ही प्राप्त हो सकता है। इसमें बाहिरी छाया मात्रसे प्रविष्ट हुआ जीव वास्तवमें प्रविष्ट हुआ नहीं कहला सकता है। अभिप्राय यह है कि, जैनियों सरीखी बाहिरी क्रियाएं करनेसे कोई सच्चा जैनी नहीं हो सकता है। जैनी होनेके लिये श्रद्धानरूप उत्तम भाव होना चाहिये।

और जिस प्रकार उस राजभवनको उपमारहित शब्द स्पर्शादि विषयोंके भोगनेसे सुन्दर बतलाया है, उसी प्रकारसे इसको भी जानना चाहिये। जितने इन्द्र है, वे सब इस मन्दिरके भीतर है। और जो बड़ी २ ऋद्धिके धारण करनेवाले बड़े २ देव हैं, वे भी जिनशासनमंदिरसे बाहिर नहीं हो सकते है। ऐसी अवस्थामें जब कि बड़े २ इन्द्र और ऋद्धिधारी देव इस मन्दिरमें रहते है, तब इसमें उपमारहित शब्दादि विषयोंके भोगोंकी सुन्दरता होना असंभव नहीं है। इस कथनसे यह बात विशेष समझ लेना चाहिये कि, जितने भोग है, वे सब पुण्यके उदयसे प्राप्त होते है। और वह पुण्य दो प्रकारका है, एक पुण्यानुबन्धी और दूसरा पापानुबन्धी। उनमेंसे जो शब्दादि उपभोग पुण्यानुबन्धी पुण्यके उदयसे प्राप्त होते है, वे तो उपमारहित कहला सकते हैं, क्योंकि अच्छी तरहसे संस्कृत (संस्कार किये हुए) तथा मनोहर पथ्य भोजनके समान उनका परिपाक वा परिणाम अच्छा होता है। और उनके भोगनेसे परिणाम विशेष उज्वल होते हैं, तथा ऐसे सुंदर परिणामोंवाला जीव उनमें प्रीति नहीं करता है, बल्कि उनको भोगते हुए भी विशेष रागभाव न होनेके कारण पूर्वमें बाँधे हुए

पापपरमाणुओंके संचयको तो शिथिल करता है और पुण्यपरमाणुओंको बहुत ही अच्छे फल देनेवाले नये विपाकसे युक्त करता है अर्थात् उन परमाणुओंकी शुभविपाकरूप अनुभागशक्तिको बढ़ा देता है। ये परमाणु जब उदयमें आते हैं, तब संसारसे विरक्त करते हैं, और उससे (विरक्ततासे) नानाप्रकारके सुख तथा अन्तमें मोक्ष प्राप्त करा देते हैं। इसी लिये उन पुण्यानुबन्धी भोगोंको सुन्दर विपाकवाले कहे हैं। और जो शब्दादि विषय पापानुबन्धिपुण्यके उदयसे प्राप्त होते हैं, वे तत्काल ही प्राण ले लेनेवाले लड्डूकी तरह परिणाममें भयंकर होते है, इसलिये उन्हें यथार्थमें भोग ही नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वे मरुभूमिके (मारबाड़के) मृगजलकी तरंगोंके समान उनके पीनेकी इच्छासे दौड़नेवाले पुरुषोंके श्रमको विफल करते हैं और इसलिये और भी अधिक प्यासको बढ़ाते हैं, परन्तु प्राप्त नहीं होते है। और यदि किसी तरहसे प्राप्त हो जाते हैं, तो परिणामोंको कषायोंसे मलिन करते है, और तब वह ओछे अभिप्रायवाला पुरुष अन्धा होकर उनमें बहुत ही अधिक प्रीति करता है। फिर जब कुछ दिन तक ठहरनेवाले उन भोगोंको भोग लेता है, तब उन (भोगोंके) प्राप्त करानेवाले पहले बाँधे हुए थोड़ेसे पुण्य परमाणुओंको भी खिरा देता है और अतिशय तीव्र तथा गुरुतर पापोंको बाँधता है। पीछे जब वे पापकर्म उदयमें आते हैं, तब वह जीव अनन्त दुःखरूपी जलचारी जीवोंसे भरे हुए संसारसमुद्रमें अनन्त कालतक परिभ्रमण करता है। इसीलिये जो शब्दादि विषय पापानुबन्धिपुण्यके उदयसे प्राप्त होते हैं, उन्हें दारुणपरिणामी कहा है। अर्थात् उनका फल भयानक है।

संसारी जीवोंके जो सुन्दर परिणामवाले अर्थात् पुण्यानुबन्धीपुण्यसे उत्पन्न हुए शब्दादि विषय हैं, वे ऊपर कहे हुए न्यायसे

अर्थात् परम्परारूपसे मोक्षके कारण हैं, इसलिये भगवानके शासन-मन्दिरसे बाहिर नहीं हैं, अर्थात् वे भी जिनशासनमें प्राप्त होते हैं, ऐसा नियम है। इसलिये दूसरे बुद्धिमान् जीवोंको भी मोक्षके प्राप्त करा देनेवाले इस भगवच्छासनमन्दिरमें भावपूर्वक अवश्य ही रहना चाहिये। अभिप्राय यह है कि इस मन्दिरमें रहनेवालोंको तो वे सुंदर भोगादिक अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि उन भोगोंका प्राप्त करानेवाला और दूसरा कोई कारण नहीं है अर्थात् जिन कारणोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, उन्हींसे सुंदर भोगादि भी प्राप्त हो जाते है। इस प्रकार जैनशासनमंदिर अविनाशी सुखोंका कारण है, इसलिये इसे निरन्तर उत्सवमय कहा है। और पूर्वकथामें कहे हुए भिखारीने जिस प्रकार अनेक विशेषणोंवाले राजमंदिरको देखा था, उसी प्रकारसे यह जीव भी वैसे ही विशेषणोंसे युक्त सर्वज्ञशासनरूप मंदिरको देखता है।

आगे पूर्वकथामें[1] कहा है कि, "वह निष्पुण्यक भिखारी उस सदा आनन्दसे पूर्ण रहनेवाले राजमन्दिरको देखकर 'यह क्या है?' इस प्रकार आश्चर्ययुक्त होकर विचार करने लगा। परन्तु उन्मादके कारण उसे उस राजमन्दिरके विशेष गुण यथार्थमें विदित नहीं हुए।" उसी प्रकारसे यह जीव अपने कर्मोंका विच्छेद होनेपर किसी प्रकारसे जिनशासनके समीप आता है और 'यह क्या है?' इस तरह जिज्ञासा करता है। परन्तु उस अवस्थामें उन्मादके समान मिथ्यात्वकर्मपरमाणुओंके कारण यथार्थमें इस जिनमतके विशेष गुणोंको नहीं जानता है। और कथामें जो आगे कहा है कि, "उस भिक्षुकको जब कारणवश कुछ चेतना हुई, तब उसके जीमें यह बात आई कि, इस सकल आश्चर्योंके स्थानभूत राजमन्दिरको इस स्वकर्म-

---

१ इसका सम्बन्ध पृष्ठ २० के पहले पारिग्राफके साथमें है।

विवर द्वारपालके प्रसादसे मै आज ही देखता हूं। मुझे ऐसा लगता है कि, मैंने इसे पहले कभी नहीं देखा है। यद्यपि मैं इसके द्वारतक पहले कई बार आ चुका हूं, परन्तु मेरे मन्दभाग्यके कारण यहांके जो दूसरे पापी द्वारपाल हैं, उन्होंने मुझे तिरस्कार करके बारंबार निकाल दिया है—कभी भीतर नहीं आने दिया है।" सो सब मेरे इस जीवके विषयमें बराबर घटित होता है। यथाः—

निकटभव्य अर्थात् ऐसे जीव जिनका कि कल्याण शीघ्र होनेवाला होता है जब किसी तरहसे जैनशासनको प्राप्त करते हैं, तब यद्यपि उसके (जैनशासनके) विशेष गुण उन्हें मालूम नहीं होते है, तो भी मार्गके अनुयायी होनेके कारण उनके ऐसे परिणाम होते है कि, यह अर्हद्दर्शन (अरहंतदेवका धर्म) बड़ा ही अद्भुत है। क्योंकि जो लोग इसमें रहते है अर्थात् इसके अनुयायी होते है, वे सब ही मित्रोंके समान, बन्धुओंके समान, एकप्रयोजन वालोंके समान, एक दूसरेको सोंपे हुए हृदयवालोंके समान, और दो शरीर एक आत्मावालोंके समान परस्पर वर्ताव करते है और ये सब अमृततृप्त है, तो भी इन्हें किसी प्रकारका भय नहीं है, इनके हृदयमें उत्सुकता (लालसा) नही है, तो भी उत्साहकी कमी नही है, इनकी सब इच्छाएं पूर्ण हो गई हैं, तो भी जीवोंकी भलाई करनेके लिये ये सदा ही उद्यत रहते है*। और यह सुन्दर शासनमन्दिर मुझे आज मालूम हुआ है। क्योंकि पहले कभी इसका विचार ही नहीं

* यहां जिनशासनमन्दिरका अद्भुतपना विरोधाभास अलकारमें दिखलाया है कि, जो अमृततृप्त हैं अर्थात् नहीं मरनेसे सुखी है, वे भयरहित नहीं हो सकते हैं, जो उत्सुकतारहित हैं, वे उत्साही नहीं हो सकते हैं, और जिनकी इच्छाएं पूर्ण हो गई है, वे जीवोंकी भलाई करनेमें उद्यत नहीं हो सकते है।

किया था। यह जीव ग्रन्थिप्रदेशके (मिथ्यात्त्वका उपशम करनेके) समीप पहले अनन्त बार आया है, परन्तु उस मिथ्यात्वरूपी गांठका भेद करके इसने किसी भी समय सर्वज्ञशासनमन्दिरका अवलोकन (सम्यक्त्वप्राप्ति) नहीं किया है। क्योंकि राग द्वेष मोह आदि क्रूर द्वारपालोंने इसे वारंवार निकालकर अलग कर दिया है। और इस कारण इसने बाहरहीसे मन्दिरके कुछ अंशको देखा है। परन्तु उस अवस्थामें इसने मन्दिरके इस भागको जहां कि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है न कभी जाना है, और न कभी विचार किया है।

आगे उस भिखारीको पर्यालोचना करनेसे ऐसा विचार हुआ था कि, "मैं सचमुच ही निष्पुण्यक (पुण्यरहित) हूं, जो पहले कभी इस नेत्रोंको आनन्दित करनेवाले राजमन्दिरको नहीं देख सका और न इसके देखनेके लिये मैंने पहले कभी कोई उपाय किया। और तो क्या मुझ अभागीने यह जाननेकी भी कभी इच्छा नहीं कि, यह राजमहल कैसा है? यह द्वारपाल मेरा परमबन्धु है, जिसने दयाभावसे मुझ भाग्यहीनको भी यह दिखला दिया। ये लोग अतिशय धन्य हैं, जो इस राजमन्दिरमें सब प्रकारके कष्टोंसे रहित और प्रसन्न चित्त हो कर रहते है।" सो यह सब मेरे जीवके विषयमें इस प्रकारसे योजित करना चाहिये कि:—शुभध्यानके कारण जब जीवके परिणाम विशुद्ध हो जाते हैं, तब इसके चित्तमें सर्वज्ञशासनमन्दिरसम्बन्धी ऊपर कहे हुए सब विचार होते हैं। अथवा जब किसी अवसरपर भगवानके समवसरणका दर्शन करनेसे, अथवा जिनेंद्रदेवका अभिषेकोत्सव देखनेसे, अथवा वीतराग भगवानकी मूर्तिका निरीक्षण करनेसे, अथवा शांत स्वभाववाले तपस्वियोंके साक्षात्कारसे, अथवा अच्छे श्रावकोंकी संगतिसे, अथवा उनके अनुष्ठानोंका अवलोकन करनेसे मिथ्यात्व

शिथिल होता है और इसके परिणाम कोमल हो जाते हैं, तब भी उक्त विचार होते हैं। शासनमंदिरसम्बंधी विचार करनेमें प्रीति भी इसे उसी समय होती है। उस समय यह इस बातका खेद करता है कि, मैने शासनमंदिरसम्बंधी विचार पहले क्यों नहीं किया ? फिर जिन-मार्गके उपदेशकोंका आश्रय लेता है, और जैनधर्ममें जिनका चित्त लवलीन रहता है, ऐसे दूसरे लोगोंका उनको अच्छा समझकर बहुत सत्कार करता है। यह सब कथन जो लघुकर्मी जीव (निकटसंसारी) सन्मार्गके समीपवर्ती होते है, चाहे उन्होंने मिथ्यात्व कर्मग्रंथिका भेद किया हो, चाहे न किया हो, सम्यग्दर्शन जिनके आगे (समीप) रहता है, और कुछ कालतक जो भद्रकभावसे (निकटभव्यपनेसे) रहते हैं, उनके सम्बंधमें किया गया है। अभिप्राय यह है कि, प्राप्त होनेकी तयारीमें जीवकी ऐसी दशा होती है और उस समय उसके मनमें ऊपर कहे हुए विचार उठते हैं।

तदनन्तर परमेश्वरकी सकल कल्याणकी प्राप्ति करनेवाली दृष्टिमें आनेपर इस जीवका जो वृत्तान्त होता है, वह पहले कहा जा चुका है। उसका सार यह है कि, " पूर्व कथामें कहा हुआ भिखारी सचेत होकर जिस समय ऊपर कहे हुए विचार करता था, उसी समय महाराजने उसकी ओर दृष्टि डाली।" इसी प्रकार यह जीव जब अपने कर्मोंकी लघुता होनेसे अर्थात् आयुकर्मको छोड़कर शेष कर्मोंकी स्थिति कम हो जानेसे सन्मार्गके सम्मुख होता है और भद्रक-भावमें रहता है, तब इसकी योग्यतासे इसपर परमात्माकी दृष्टि पड़ती है। वहां जो उक्त सुन्दर महलके सातवें खनपर रहनेवाले, उसके नीचेके नानाव्यापारमय अदृष्टमूलपर्यन्त नामके समस्त नगरको सर्वदा देखनेवाले, नगरसे बाहिरके भी समस्त पदार्थोंके देखनेमें अरोक

शक्ति रखनेवाले, और निरन्तर आनन्दित तथा अपनी लीलामें लवलीन रहनेवाले, सुस्थित नामके महाराज कहे गये हैं, सो यहां अशरीरी अवस्थामें वर्तमान् परमात्मा–सर्वज्ञ–भगवान्‌को समझना चाहिये। क्योंकि जिस तरह सुस्थित महाराज महलके सबसे ऊपरके सातवें खनमें रहते है, उसी प्रकारसे परमात्मा सर्वज्ञदेव मृत्युलोकसे ऊपर ऊपर सात राजूरूप मंजिलोंवाले लोक–महलके शिखरपर सबसे ऊपर विराजमान हैं। अर्थात् मनुष्यलोकसे सिद्धशिला पर्यंत जो सात राजू ऊंचा लोक है, वही एक महल है। इस महलमें एकके ऊपर एक इस प्रकारसे जो सात राजू हैं, वे ही सात मंजिलें है, और सबके ऊपर सातवीं मंजिलपर सिद्ध महाराज रहते है। जिस तरह सुस्थित महाराज नानाव्यापारमय नगरको और उसके बाहिरके पदार्थोंको देखते है, उसी प्रकारसे परमात्मा सर्वज्ञ नानाव्यापारमय संसारविस्तारको तथा उसके बाहिरके अलोकाकाशको अपने केवलज्ञानके प्रकाशमे हथेलीपर रक्खे हुए आंवलेके समान देखते है। इसी तरह सुस्थित नरेंद्रके समान वे अनंतवीर्य और अनंतसुख-- परिपूर्ण होनेसे निरंतर आनंदित रहकर लीलामें लवलीन रहते हैं। दूसरे जीव उनके समान लीलामग्न रहनेके योग्य नहीं हैं, क्योंकि संसाररूप गड्ढेमें पड़े हुए जीवोंकी लीला यथार्थमें विडम्बनारूप है।

आगे जो कहा है कि, "बड़े २ रोगोंकी अधिकतासे जिसका स्वरूप अतिशय घिनौना दिखता था, ऐसे उस भिखारीको सुस्थित महाराजने दया करके विशेषतासे देखा।" सो इस जीवके विषयमें भी समझना चाहिये। क्योंकि जब यह आत्मा अपने भव्यत्वादि गुणोंका परिपाक होनेपर इस कोटिमें आरूढ होता है, अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता रखनेवाले जीवोंकी श्रेणीमें प्रवेश करता है,

तब इसपर भगवानकी कृपा होती ही है। क्योंकि भगवानकी कृपाके विना यह मार्गानुसारी (जैनधर्मानुयायी) नहीं हो सकता है। और उनकी कृपासे ही उन भगवानके विषयमें इसका यथार्थ आदरभाव होता है–और तरहसे नहीं। क्योंकि इस विषयमें स्वकर्मोंके क्षय उपशम और क्षयोपशमकी प्रधानता नहीं है। यह जीव ऐसी शोचनीय अवस्थामें पड़ा हुआ है, इस बातको सोचकर भगवानने इसको विशेषतासे देखा, ऐसा कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिनेंद्र भगवान् अचिन्त्य शक्तिके धारक है, तथा परोपकार करनेमें ही सदा लवलीन रहते हैं, ईसलिये वे इस जीवको मोक्षमार्गके प्राप्त करानेमें मुख्य कारण है। यहां-पर शास्त्रके अनुसार ऐसा विचार करना चाहिये कि, यद्यपि शरीर-रहित होकर भी परमात्मा समस्त जगतके जीवोंपर दया करनेमें समर्थ है, तो भी वह जीवोंके भव्यत्व, कर्म, काल, स्वभाव और भाग्य आदि सहकारी कारणोंका विचार करके जगत्का अनुग्रह करनेमें प्रवृत्त होता है, इसलिये एक ही समयमें सारे जीव संसारसे पार नहीं हो सकते है। अभिप्राय यह है कि, प्रत्येक जीवको एक ही समयमें उक्त भव्यत्व कर्मत्व आदि सहकारीकारण नहीं मिल सकते हैं, इसलिये वे सबके सब एक साथ मुक्त नहीं हो सकते हैं। इस तरह समस्त जीवोंपर दया करनेमें समर्थ होनेके कारण जिनेंद्रदेवकी दृष्टि इस जीवपर जिसका कि भविष्यमें कल्याण होनेवाला है और जो भद्रपरिणामी है, पड़ती ही है।

आगे जिस तरहं "भोजनशालाके अधिकारी **धर्मबोधकरने** उस भिखारीपर महाराजकी दृष्टि पड़ती हुई देखी" ऐसा कहा गया है, उसी प्रकारसे धर्मका बोध (ज्ञान) करनेमें तत्पर होनेके कारण जो 'धर्मबोधकर' इस यथार्थ नामको धारण करनेके योग्य हैं, और सच्चे

मार्गका उपदेश करते हैं, ऐसे आचार्य महाराजने मेरे जीवपर पड़ती हुई परमेश्वरकी दृष्टि देखी; ऐसा समझना चाहिये। विशेष इस प्रकार है कि जिनका आत्मा शुभध्यानके बलसे निर्मल हो गया है और जो दूसरोंका हित करनेमें सदा दत्तचित्त रहते हैं, वे ज्ञानवान योगी देशान्तर और कालान्तरके प्राणियोंकी भी भगवानकी दृष्टि पड़नेकी योग्यताको जान सकते है। जो महात्मा छदमस्थ अवस्थामें वर्तमान है अर्थात् अपूर्णश्रुतज्ञानी है, तथा जिनकी बुद्धि भगवानके आगमोंसे मँजी हुई है, वे भी जब उपयोग लगाकर अपने समीपके प्राणियोंकी योग्यता (भगवानकी दृष्टि पड़नेकी) को जान जाते है, तब विशेष ज्ञानियोंकी अर्थात् सम्पूर्णश्रुतज्ञानियोंकी तो बात ही क्या कहना? और जिन आचार्य महाराजने मुझे सदुपदेश दिया है, वे विशेषज्ञानी ही थे। क्योंकि उन्होंने मेरा आगामी कालमें होनेवाला भी सारा वृत्तांत जान लिया था। यह मेरी स्वानुभवसिद्ध वार्ता है।

पश्चात् धर्मबोधकर मंत्री विस्मित होकर विचारने लगा कि:—" अहो! मैं यह क्या आश्चर्य देख रहा हूं? क्योंकि ये सुस्थित महाराज जिसपर दृष्टि डालते है, वह पुरुष तत्काल ही तीनों भुवनका राजा हो जाता है। यह बात भलीभांति प्रसिद्ध है। परंतु इस समय जो महाराजकी दृष्टिमें आ रहा है, वह तो भिखारी है, दीनताका मारा हुआ है, रोगी है, दरिद्रताका पात्र है, मोहका हता हुआ है, अतिशय घिनौना है, और संसारसे भयभीत करनेका एक कारण है। तब यह बात पूर्वापर विचार करनेसे भी ठीक २ नहीं जँचती है कि, इस सारे दोषोंसे युक्त भिखारीपर परमेश्वरकी दृष्टि क्यों पड़ी? क्योंकि:—**न कदाचनापि दीर्घतरदौर्गत्यभाजिनां गेहेषु अनर्घेयरत्नवृष्टयो निपतितुमुत्सहन्ते।** अर्थात् अमूल्य रत्न अतिशय

दुर्दशाग्रस्त अभागी पुरुषोंके घरोंमें नहीं बरसना चाहते हैं। तो फिर ऐसा क्यों हुआ ? इस प्रकार उसके चित्तमें अतिशय आश्चर्य हुआ।" इन सब बातोंको सद्धर्माचार्यके (गुरुके) चित्तमें जो मेरे जीव–विषयक विचार हुए हैं, उनके साथ घटित करना चाहिये। सो इस प्रकारसे कि:—जो जीव पहली अवस्थामें गुरुकर्मपनेके कारण समस्त पाप करता था, सब प्रकारके असभ्य तथा असत्य वचन बोलता था, और निरंतर रौद्रध्यान करता था, वही जीव जब एकाएक विना समयके ही किसी निमित्तसे शुभ सदाचारवाला, सत्य तथा प्रिय बोलनेवाला और अतिशय शांतचित्त हो जाता है, तब जो पूर्वापर विचार करनेमें चतुर होते है, उनके मनमें ऐसा वितर्क उठता ही है कि, मनवचनकायकी सुंदर और सद्धर्मकी साधनेवाली प्रवृत्ति भगवानकी कृपाके विना किसीको भी प्राप्त नहीं हो सकती है। और इसकी मनवचनकायकी प्रवृत्ति हमने इसी भवमें अतिशय मलिन देखी थी, परंतु अब शुभरूप हो गई है। इससे जान पड़ता है कि, इसपर भगवान्‌की कृपा हुई है। पर यह बात पूर्वापर विरुद्ध ही सी जान पड़ती है। नहीं तो ऐसे पापी जीवपर भगवानकी दृष्टि कैसे पड़ जाती ? क्योंकि वह दृष्टि जिस किसी जीवपर पड़ती है, उसे अनायास ही मोक्ष प्राप्त कराके तीन भुवनका राजा बना देती है। अतएव इस जीवपर भगवानकी दृष्टिका पड़ना संभव नहीं हो सकता है। परन्तु इसमें जो शुभ मनवचनकायकी प्रवृत्तिका कुछ अंश दिखलाई देता है, वह भगवानकी दृष्टिपातके विना संभव नहीं हो सकता है, इससे भगवानकी दृष्टिके पड़नेका सद्भाव भी यहां निश्चित होता है। और इस तरहसे संदेहके दूर करनेका यह एक कारण भी मिलता है। ऐसी दशामें जब कि बुद्धि सन्देह और निश्च-

यकी दोनों कोटियोंका अवलम्बन कर रही है, हमारा मन इस अभिप्रायसे कि "यह क्या आश्चर्य है" डाँवाँडोल हो रहा है।

फिर इस अभिप्रायसे पर्यालोचना करते २ धर्मबोधकरने निश्चय किया कि, "इस भिखारीपर महाराजकी दृष्टि पड़नेके दो कारण है और उनसे इसपर परमेश्वरकी दृष्टि पड़ना युक्तिसंगत जान पड़ता है। एक तो यह कि इसे अच्छी तरह परीक्षा करनेवाले स्वकर्मविवर द्वारपालने राजभवनमें प्रवेश करने दिया है, इससे यह महाराजकी विशेष दृष्टिके योग्य है और दूसरे इस राजमन्दिरका अवलोकन करके जिसका मन प्रसन्न होता है, वह महाराजका अत्यन्त प्यारा होता है ऐसा मै पहले निश्चय कर चुका हूं और मुझे जान पड़ता है कि इसके मनमें प्रसन्नता अवश्य हुई है। क्योंकि यद्यपि इसके दोनों नेत्र रोगोंसे अतिशय पीड़ित है, तो भी राजभवनके देखनेकी अभिलाषासे यह उन्हें वारंवार खोलता है। राजमन्दिरके देखनेसे इसका मुख भी जो कि अतिशय बीभत्सरूप (घिनौना) था, एकाएक प्रसन्नताकी प्राप्तिके कारण दर्शनीय हो गया है, और इसके धूलसे मैले हुए सारे अंग-उपांग भी रोमांचित हुए दिखलाई देते है। ये सब लक्षण अंतःकरणके हर्षके विना नहीं होते है, अतएव राजभवनकी ओर इसका इतना प्रेम होना, यह महाराजकी दृष्टि पड़नेका दूसरा कारण है।" इन सब बातोंका धर्माचार्य महाराज भी मेरे जीवके विषयमें विचार करते हैं। सो इस प्रकारसे कि:— अनेक हेतुओंसे जाना जाता है कि, इस जीवके कर्मोंका विच्छेद (कर्मविवर) हुआ है। इसी प्रकार भगवानके शासनको पाकर इसके हृदयमें जो प्रसन्नता हुई हैं, वह भी आगे कहे हुए कई प्रकारोंसे जान पड़ती है। एक तो निष्पुण्यकके आंखें खोलनेके समान जो इस जीवको जीवादि पदार्थोंके

जाननेकी अभिलाषा हुई है उससे, दूसरे धर्मशास्त्रके स्वरूपकी लेश-मात्र प्राप्तिसे जो इसे भिखारीके मुखकी प्रफुल्लताके समान संसारसे संवेग (भयभीतता) हुआ है उससे, और तीसरे धूलसे मलिन हुए अंगोपांगोंमें रोमांच होनेके समान जो इसकी थोड़ीसी प्रवृत्ति शुभ क्रियाओंमें हुई है, उससे। इन तीन बातोंसे इस जीवके मनकी प्रसन्नता सूचित होती है और इससे भगवानकी उसपर दृष्टि पड़ी है, ऐसा निर्णय होता है। मेरे जीवविषयक निश्चय करनेमें भी ये दो ही कारण हैं, एक 'स्वकर्मविवरताकी प्राप्ति' और दूसरा 'भगवानके शासनका पक्षपात'।

पश्चात् उस भोजनशालाके अधिकारीने निष्पुण्यकके विषयमें चि-न्तवन किया कि:—"यद्यपि यह इस समय भिखारी है, तथापि महाराजकी दृष्टि पड़नेके कारण इसका धीरे २ कल्याण होता जा-यगा और कुछ कालमें यह वस्तुत्वको (महाराजत्वको) प्राप्त हो जायगा, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।" इसी प्रकारसे धर्मा-चार्य महाराज भी यह जान करके कि इस जीवपर भगवानका दृष्टि-पात हो गया है, इसलिये इसका भविष्यमें अवश्य ही कल्याण होगा, ऐसा सन्देहरहित होकर निश्चय कर लेते है।

जैसे सुस्थित महाराजकी उस भिखारीपर दृष्टि पड़ी है, ऐसा निर्णय होते ही उनकी अनुवृतिके वश (अनुयायी होनेके कारण) धर्मबोधकर दयालु हो गया, उसी प्रकारसे इस जीवपर परमात्मा भगवान्‌की दृष्टि पड़ी है, ऐसा जानकर धर्मगुरु वा धर्माचार्य महा-राज भी उनकी (भगवानकी) आराधना करनेमें तत्पर रहनेके का-रण दयालु हो जाते हैं। अर्थात् आचार्य महाराज इस जीवपर दया करके मानो जिनेन्द्रदेवकी ही आराधना करते हैं। क्योंकि

भगवानकी जिसपर दृष्टि पड़ जाती है, उसपर कृपा करना उस दृष्टिकी वा दृष्टि डालनेवालेकी ही आराधना करनेके बराबर है।

फिर "वह रसोईका अधिकारी धर्मबोधकर आदरके वश शीघ्र ही उसके समीप गया और 'हे भद्र! आओ! आओ! मैं तुम्हें भिक्षा दूं' ऐसा कहकर उसने भिखारीको बुलाया।" ऐसा जो कहा है, सो इस प्रकारसे योजित करना चाहिये कि:—पहले कहे हुए न्यायसे अनादि संसारमें परिभ्रमण करते २ जब इस जीवके भव्यत्व गुणका परिपाक होता है, क्लिष्ट (अशुभ) कर्म बहुत करके क्षीण हो जाते हैं, जो थोड़ेसे शेष रह जाते है, वे रंध्र दे देते है अर्थात् शिथिल हो जाते हैं, मनुष्यभवादि सामग्री प्राप्त होती है, सर्वज्ञशासनका दर्शन होता है, उसके विषयमें अच्छी बुद्धि होती है, पदार्थोंके जाननेकी थोड़ी-सी इच्छा होती है, और अच्छे कर्म करनेकी कुछेक बुद्धि होती है, तब धर्माचार्य महाराजके परिणाम अतिशय दयालु होते हैं। और इस प्रकारके भद्रकभावमें (निकटभव्यत्वमें) वर्तता हुआ जीव यद्यपि अभीतक पाप करता है, तथापि इसपर भगवान्‌की दृष्टि पड़ी है, इसलिये यह सन्मार्गमें (जिनशासनमें) आनेके योग्य है, ऐसा निश्चय करके वे भावपूर्वक इसके (मेरे) सम्मुख होते हैं। इसे धर्मबोधकरके भिखारीके समीप आनेके समान समझना चाहिये। आगे धर्माचार्य महाराज प्रसन्न होकर इससे कहते है कि:—हे भद्र! यह-लोक अकृत्रिम है अर्थात् किसीका बनाया हुआ नहीं है, काल अनादि अनन्त है, आत्मा शाश्वतस्वरूप है अर्थात् इसका कभी नाश नहीं होता है—अजर अमर है, इसके पीछे जो मरने जीनेरूप भवप्रपंच लगा हुआ है, वह कर्मोंके कारण है, वे कर्म अनादि कालसे जीवके साथ सम्बद्ध हो रहे हैं, और उन कर्मोंकी उत्पत्तिमें प्रवाह-

रूपसे मिथ्यात्वादि परिणाम कारण हैं। अर्थात् बीज वृक्षके समान मिथ्यात्वसे कर्म और कर्मोंसे मिथ्यात्वादि परिणाम होते रहते है। ये कर्म दो प्रकारके हैं, कुशलरूप और अकुशलरूप अर्थात् शुभरूप और अशुभरूप। इनमेंसे जो कुशलरूप हैं, उन्हें पुण्य तथा धर्म कहते हैं और जो अकुशलरूप हैं, उन्हें अधर्म तथा पाप कहते है। सुखोंका अनुभव पुण्यके उदयसे और दुःखोंका अनुभव पापोंके उदयसे होता है। इन पुण्य और पापोंकी ही जो अनंतभेदरूप न्यूनाधिकता (तरतमता) होती है, उसीसे यह उत्तम, मध्यम, और अधम आदि अनंतभेदरूप विस्मयकारी संसार उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि, संसारमें जो अधिक सुखी, कम सुखी, अधिक दुखी, कम दुखी आदि नानाप्रकारके जीव दिखलाई देते हैं, वे सब इन पुण्य और पापोंकी न्यूनाधिकतासे हुए है। जिस समय यह जीव धर्माचार्य महाराजके उक्त वचन सुन रहा था, उस समय इसे अनादिकालकी कुवासनाके कारण आगे कहे हुए अनेक कुविकल्प उत्पन्न हुए थेः—यह संसार एक अंडेमेंसे उत्पन्न हुआ है[१], अथवा ईश्वरका बनाया हुआ है[२], अथवा ब्रह्मा विष्णु आदिने इसे बनाया है[३], अथवा यह एक प्रकृतिका विकार है[४], अथवा क्षण क्षणमें क्षय होनेवाला है[५], अथवा यह पंचस्कंन्धात्मक[६] जीव पांच भूतोंसे[७] उत्पन्न हुआ है[८], अथवा विज्ञानमात्र है[९], अथवा यह जो कुछ है, सो सब शून्यरूप है[१०], अथवा कर्म कोई पदार्थ ही नहीं है[११], अथवा यह सब जगत् महादेवके वशसे नानारूप होता रहता है[१२]। ये सब वि-

---

१ स्मार्तमत। २ नैयायिक। ३ पौराणिक। ४ साख्य। ५ बौद्धका एक भेद। ६ रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार ये पांच स्कन्ध है। ७ पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश। ८-९-१० बौद्धोंके तीन भेद। ११ चार्वाक। १२ औलूक्यदर्शन।

कल्प इस तरहसे दूर हो जाते हैं, जिस तरह संग्राम भूमिमें भयंकर महायोधाके देखनेसे शत्रुओंसे डरनेवाले मनुष्य भाग जाते हैं। और तब यह जीव मानता है कि, ये महात्मा मुझसे जो कुछ कहते हैं, वह सब युक्तियुक्त है। ये वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी परीक्षा मुझसे बहुत अधिक कर सकते हैं। इससे पूर्वकथामें जो कहा है कि, "धर्मबोधकरको पास आते देखकर वे सबके सब लड़के जो कठिनाईसे भी नहीं रुकते थे, कठोर थे और कष्ट देनेके लिये भिखारीके पीछे लगे हुए थे, भाग गये।" सो उसकी भी योजना हो गई। क्योंकि उक्त कुविकल्प ही दुर्दांत[1] लड़कोंके समान है, जो जीवको कष्ट देते हैं और सुगुरुके मिलनेसे ही पीछा छोड़ते है। इस प्रकारसे जब इस जीवके सारे कुविकल्प नष्ट हो जाते है, तब यह गुरुमहाराजके वचन सुननेकी अभिलाषासे कुछेक उनके सम्मुख होता है। उस समय पराई भलाई करनेका ही जिन्हें व्यसन लगा हुआ है, ऐसे गुरु इसे सन्मार्गका उपदेश देते हुए इस प्रकारसे कहते है कि:—"हे भद्र! सुन, इस संसारमें पर्यटन करते हुए इस जीवका धर्म ही अतिशय प्यार करनेवाला **पिता** है, धर्म ही गाढ़ी प्रीति करनेवाली **माता** है, धर्म ही अभिन्नहृदय अर्थात् एक सरीखे परिणामोंवाला **भाई** है, धर्म ही सदा एकसा स्नेह रखनेवाली **बहिन** है, धर्म ही सारे सुखोंकी खानि अपनेपर अनुरक्त रहनेवाली और गुणवती **स्त्री** है, धर्म ही विश्वासी, एकरस, अनकूल और सारी कलाओंमें चतुर **मित्र** है, धर्म ही देवकुमारों सरीखा सुंदर और चित्तको अतिशय आनंदित करनेवाला **पुत्र** है, धर्म ही अपने शील और सौंदर्य गुणसे जयपताका प्राप्त करनेवाली और कुलकी उन्नति करनेवाली **पुत्री** है, धर्म ही सदाचारी **बन्धुवर्ग** है,

---

१ दु:खसे जिनका अन्त हो सके।

धर्म ही विनयवान **परिकर** (नौकर चाकर) है, धर्म ही **राजापना** है, धर्म ही **चक्रवर्तीपना** है, धर्म ही **देवपना** है, धर्म ही **इन्द्रपना** है, धर्म ही अपनी सुन्दरतासे त्रिभुवनको पराजित करनेवाला और जरामरणके विकारोंसे रहित वज्र सरीखा सुदृढ़ **शरीर** है, धर्म ही समस्त शास्त्रोंके अभिप्रायोंके सुंदर शब्द सुननेवाले **कान** हैं, धर्म ही तीनों लोकोंको देख सकनेवाले कल्याणदर्शी **नेत्र** हैं, धर्म ही मनको प्रसन्न करनेवाली अमूल्य **रत्नोंकी राशियां** है, धर्म ही चित्तको आल्हादित करनेवाले और विषघातन आदि आठ गुणोंके धारण करनेवाले **सोनेका ढेर** है, धर्म ही शत्रुओंका नाश करनेवाली **चतुरंगिनी सेना** है, और धर्म ही अनंत रतिसागरमें अवगाहन करानेवाले **विलासस्थान** है। अधिक कहनेसे क्या विघ्नरहित अनन्त सुखोंका कारण एक धर्म ही है और कोई दूसरा नहीं है।"

जब इस प्रकारसे मधुरभाषी भगवान् धर्माचार्य उपदेश देते हैं, तब इस जीवका चित्त कुछेक आकर्षित होता है, और उसके कारण नेत्र उघाड़ता है, मुखकी प्रसन्नता दिखलाता है, विकथा आदि दूसरे विक्षेपोंको–झगड़ोंको छोड़ देता है, कुछ सोचता हुआ मुसकुराता है और कभी चुटकी बजाने लगता है। उस समय आचार्य भगवान इसे कुछ रसमें पैठा हुआ समझकर इस प्रकार कहते हैं:–"वह धर्म जिसकी मैने अभी प्रशंसा की है, चार प्रकारका है–दानमय, शीलमय, तपोमय और भावनामय। इसलिये हे भाई! तू चाहता है, तो इन चारों ही प्रकारके धर्मोंका तुझे पालन करना चाहिये। जितना तुझसे बन सके, उतना सुपात्रोंको दान दे, सारे पापोंको छोड़ दे (सकलचारित्र), अथवा स्थूल पापोंको छोड़ दे (विकलचारित्र) अथवा हिंसासे, झूठ बोलनेसे, चोरी करनेसे, परस्त्रीसेवनसे, अमर्यादित

परिग्रह जोड़नेसे, रात्रिभोजनसे, मद्य पीनेसे, मांस खानेसे, सजीव फल (गूलरआदि उदुम्बुरफल) खानेसे, मित्रद्रोहसे, गुरुकी स्त्री सेवनसे, अथवा और भी जो बातें तुझसे छोड़ी जा सकें, उनसे निवृत्त हो जा, शक्तिके अनुसार किसी एक तपको कर, और निरन्तर शुभभावनाओंका चिन्तवन किया कर, जिससे तुझे इस लोकमें और परलोकमें दोनों जगह सब प्रकारके सुख प्राप्त हों।" इससे कथामें जो कहा है कि:—"धर्मबोधकरने जब उस भिखारीको भोजन करनेके योग्य स्थानमें ले जाकर बिठाया, और अपने सेवकोंको उसे भिक्षा देनेके लिये आज्ञा दी; तब शीघ्र ही उसकी (धर्मबोधकरकी) **तद्दया** नामकी लड़की अतिशय मीठे परमान्न को (खीरको) लेकर उसके देनेके लिये पहुंच गई।" सो सब इस तरहसे योजित होगया कि:—धर्माचार्यने जो धर्मकी प्रशंसा की, सो भिखारीको बुलानेके समान समझना चाहिये, उसके चित्तको अपनी ओर आकर्षण करना भोजनके योग्य स्थानमें ले जाकर बिठानेके तुल्य जानना चाहिये, धर्मके भेद वर्णन करना सेवकोंको भिक्षा देनेके लिये आज्ञा करनेके समान मानना चाहिये और उन गुरुमहाराजकी इस जीवपर जो दया हुई, उसे धर्मबोधकरकी 'तद्दया'[1] नामकी पुत्री जानना चाहिये। इसके सिवाय दानमय, शीलमय आदि चार प्रकारके धर्मोंके पालन करनेके उपदेश देनेको तद्दयाके परमान्न देनेके समान समझना चाहिये। क्योंकि वह धर्मोपदेशरूप परमान्न धर्माचार्योंकी दयासे (तद्दयासे) ही जीवको प्राप्त हो सकता है—अन्य किसी प्रकारसे नहीं।

आगे कहा है कि:—"उस धर्मबोधकरको अकारण भिक्षा देनेके लिये इस प्रकार अतिशय आदरवान् देखकर भिखारी सो-

१ तस्मिन् जीवे दया—कृपा।

चने लगा कि, और दिन भिक्षा माँगनेपर भी लोग मुझे निकाल देते थे अथवा तिरस्कारपूर्वक कुछ थोड़ा बहुत दे देते थे। परन्तु आज यह सुन्दर वेषवाला पुरुष जो राजासरीखा जान पड़ता है, स्वयं आकर मुझे बुलाता है और 'तुझे भिक्षा देता हूं' ऐसा कहकर लुभाता है। यह क्या आश्चर्य है? इस प्रकार विचार करते हुए भिखारीके मनमें फिर उसके ओछे अभिप्रायोंके कारण यह बात उठी कि, यह मुझे अच्छा नहीं मालूम होता है। जान पड़ता है कि, यह सब प्रपंच मेरे मूसनेके लिये रचा गया है। मेरा यह भिक्षाका पात्र प्रायः पूरा भर चुका है, इसलिये यह मुझे किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर इसे जरूर ही छीन लेगा। तो अब मुझे क्या करना चाहिये? क्या मैं इस स्थानसे एकाएक भाग जाऊं? अथवा बैठकर इस पात्रमेंके भोजनको ही भक्षण कर डालूं? अथवा मुझे भिक्षा नहीं चाहिये इस प्रकार प्रतिषेध करके यहांसे एक पैर भी आगे न बढ़ाऊं? अथवा इसे धोखा देकरके—छलकरके जल्दीसे कहीं घुसकर छुप रहूं? न जाने इससे मेरा छुटकारा कैसे होगा? जब वह ऐसे २ बुरे विकल्पोंके उपजनेसे व्याकुल होता हुआ चिन्ता करता है, तब उसे बड़ा भारी भय होता है, तृष्णा बढ़ती है, हृदय सूखता है, अन्तरात्मा विह्वल हो जाता है, और चित्तवृत्तिके अतिशय जडरूप हो जानेसे संरक्षणानुबन्धी महारौद्रध्यान उत्पन्न होता है। इंद्रियोंका व्यापार रुद्ध हो जाता है, नेत्रबन्द हो जाते हैं, और चेतना नष्ट हो जाती है, इससे नहीं जानता है कि मैं कहां लाया गया हूं, अथवा कहां ठहरा हूं, केवल गढ़ी हुई खड़ी खूँटीके समान निश्चेष्ट हो कर खड़ा रहता है और वह तद्दया वारंवार 'यह भोजन ग्रहण कर' इस प्रकार कह कह कर थक जाती है। परन्तु निष्पुण्यक दरिद्री अपने उस सारे रोगोंके करनेवाले तुच्छ कुभोजनकी रक्षा करनेके गहरे

प्रेममें अर्थात् संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यानमें ऐसा नष्टबुद्धि हो जाता है कि, बेचारा सारे रोगोंके हरण करनेवाले और अमृतके समान मीठे परमान्नको देनेके लिये बुलाती हुई उस तद्द्याको नहीं जानता है–उसकी बात भी नहीं सुनता है।" भिखारीका यह सब चरित्र जीवके विषयमें इस प्रकारसे घटित करना चाहिये:—

जीवका हित करनेकी इच्छासे जिस समय भगवान् धर्मगुरु धर्मकी विस्तारपूर्वक प्रशंसा करके फिर चार प्रकारके धर्मके पालन करनेका उपदेश देते है, उस समय यह जीव मिथ्याज्ञानरूप महा अंधकारमय काच, पटल, तिमिर और कामला (पीलिया) आदि व्याधियोंके कारण विवेकरूपी नेत्रोंकी शक्ति लुप्त हो जानेसे, अनादि संसारसे जिसका अभ्यास हो रहा है, ऐसे महामिथ्यात्वरूप उन्माद तथा संतापके कारण दुखी होनेसे, तीव्र चारित्रमोहनीयरूप रोगोंसे विह्वल होनेसे और विषयधनस्त्रीपुत्रादिके गाढ़े मोहसे घिरा होनेसे इस प्रकार विचार करता है कि, " जब पहले मै धर्म अधर्मके विचारकी कुछ भी खोज नहीं करता था, तब इन साधुओंके पास कभी जाता था, तो ये मेरी बात भी नहीं पूछते थे। और यदि किसी अवसरपर मुझसे कुछ धर्मके विषयमें कहते थे, तो अनादरसे केवल एक दो बातें कहते थे। परन्तु अब मुझे धर्म अधर्मके जाननेमें तत्पर समझकर और 'यह हमारे उपदेशका अनुगामी हो जायगा' ऐसा मानकर मैं नहीं पूछता हूं, तो भी ये जगत्प्रसिद्ध जैनसाधु अपने कंठ और तालुके सूखनेका विचार न करके ऊंचे स्वरसे और वचनोंकी रचनाके बड़े भारी घटाटोपसे मेरे आगे धर्मकी प्रशंसा करते हैं। और मेरा चित्त कुछ धर्मकी ओर खिंचा हुआ देखकर मुझसे दान दिलाते हैं, शील ग्रहण कराते हैं, तपस्या कराते हैं, और भावनाएं चिन्तवन कराते हैं।

तब यह नहीं जान पड़ता है कि, इनके इस विना समयके ही इतने वंचनोंके घटाटोपका गूढ आशय क्या है ? मेरे सुन्दर २ स्त्रियां है, नाना प्रकारके द्रव्योंका संचय है, अनेक प्रकारके धान्यके कोठे हैं और सब प्रकारके चौपाये तथा कुप्य पदार्थ हैं। ये सब बातें जान पडता है कि, इन्हें अब निश्चयपूर्वक मालूम हो गई हैं; इससे इनके उक्त सब वचनाडम्बरका यह अभिप्राय होगा कि, 'तुझे दीक्षा देते हैं, तेरे सब पाप नष्ट किये देते हैं, तेरे कर्म-बीजको जलाये देते है, तू हमारा वेष धारण कर, गुरुके चरणोंकी पूजा कर, और उनके चरणोंमें ही अपनी स्त्री, धन, सोना आदि समस्त सम्पत्ति चढ़ा दे, फिर उनकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे तू पिंडपात करके अर्थात् शरीरको छोड़कर शिव हो जायगा।' ऐसे २ वचनोंकी रचनासे ठगकर ये जैनसाधु शैवाचार्यके समान मुझे मूसनेकी इच्छा करते है अर्थात् छीन लेना चाहते है, अथवा 'सुवर्णदान बहुत बड़े फलका देनेवाला है, गायका दान देनेसे पुरुष बड़ा भाग्यशाली होता है, पृथिवीका दान करना अक्षय्य (अविनाशी) होता है, पूर्तधर्म अर्थात् यज्ञ करना वा सरोवर आदि खुदाना अतुल फलका देनेवाला है, वेदके पारगामी ब्राह्मणोंको दान देना अनन्तगुणें फलका दाता होता है, तत्कालकी ब्यानी हुई, बछड़ेवाली (?), वस्त्र ओढ़े हुए, सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली, और रत्नोंसे सजाई हुई गाय विधिपूर्वक ब्राह्मणको देनेसे जिसके चारों समुद्ररूपी मेखला (करधनी) है, ऐसी ग्राम नगर खानि पर्वत और उपवनों सहित पृथ्वी दान दीं, ऐसा समझा जाता है, और वह अटूट फलकी देनेवाली होती है।' ऐसे २ मूर्ख लोगोंको ठगनेवाले कपोलकल्पित श्लोकोंमें रचे हुए ग्रन्थोंसे जिस प्रकार ब्राह्मण लोग संसारको ठगते है, उस प्रकारसे ये

जैनमुनि भी मेरी सम्पत्तिको हरण करनेकी इच्छा करते हैं। अथवा 'अतिशय रमणीय विहार बनवाओ, उनमें बहुश्रुत (ज्ञानी) साधुओंका निवास कराओ, संघकी पूजा करो, भिक्षुओंको दक्षिणा दो, अपनी सम्पत्तिको समस्त संघसम्बन्धी भंडारमें रख दो, संघके कोठोंमें ही अपने धान्यके संग्रहको रख दो, संघसम्बन्धी संज्ञातिमें (गोकुलमें ?) ही अपने चौपाये समर्पण कर दो, और बुद्धधर्मके संघके अगुआ हो जाओ। ऐसा करनेसे तुम्हें शीघ्र ही बुद्धपदकी प्राप्ति हो जायगी।' इस प्रकार वाचालतासे रचे हुए अपने मायाजालरूप शास्त्रोंसे जिस प्रकार रक्तभिक्षु अर्थात् **बौद्धसाधु** विसंवाद (ठगाई) करते हैं, उसी तरह ये जैनसाधु भी विसंवाद करके मेरी सारी सम्पत्तिको लेना चाहते है। अथवा 'संघकी ज्योनार कराओ, ऋषियोंको जिमाओ, मीठे मीठे खाद्य पदार्थ देओ, और मुखको सुगन्धित करनेवाले सुन्दर द्रव्य भेंट करो, दान ही गृहस्थका परम धर्म है क्योंकि इसीसे संसारसे तरण होता है।' इस प्रकारसे लुभाकरके अपने शरीरको पुष्ट करनेमें तत्पर रहनेवाले **दिगम्बरके*** समान ये जैनसाधु मेरा धन हरण करके खिसक जावेंगे। यदि ऐसा नहीं होता, तो ये मेरा इतने विस्तारसे धर्मकथन करनेरूप आदर क्यों करते? तात्पर्य यह है कि, ये श्रमण

---

* यद्यपि ग्रन्थकर्त्ता श्वेताम्बरसम्प्रदायके अनुयायी हैं, इसलिये उनका दिगम्बरसम्प्रदायके विरुद्धमें लिखना स्वाभाविक है। परन्तु दिगम्बर जैसी वीतरागवृत्तिमें शरीरपोषणतत्परताका, मिष्टभोजनकी लोलुपताका और मुखसुगंधिकी आवश्यकताका आक्षेप सर्वथा ही असंगत प्रतीत होता है। बल्कि निष्पक्ष दृष्टिसे देखा जाय, तो दिगम्बरवृत्तिकी अपेक्षा श्वेताम्बरवृत्तिमें ऐसी बातोंकी अधिक सभावना हो सकती है। तब यह आक्षेप वेदानुयायी परमहंसोंके विषयमें तो नहीं है, जो कि दिगम्बरमुनियोंके समान ही नग्न रहते हैं। **अनुवादक.**।

(जैनसाधु) तब ही तक अच्छे है, जब तक इनके पास नहीं गये हैं और जबतक इनके वशमें नहीं हुए हैं। वशवर्ती भोले जीवोंको तो ये मायावी श्रद्धालु समझकर नाना प्रकारकी बातोंकी रचनासे ठग लेते हैं। अतएव ये मेरी सारी सम्पत्तिको हर लेंगे, इसमें अब मुझे कुछ भी सन्देह नही रहा है। तो अब मुझे पहले ही पहिल मिले हुए इन श्रमण महात्माके साथ क्या करना चाहिये? क्या कुछ उत्तर दिये विना ही मैं यहांसे उठकर चला जाऊं? अथवा साफ कह दूं कि, मुझमें धर्म धारण करनेकी शक्ति नहीं है? अथवा ऐसा उत्तर दे दूं कि, मेरा सारा धन चौरादि हरण कर ले गये है—मेरे पास अब कुछ नहीं रहा है, इससे पात्रोंको कुछ नहीं दे सकता हूं। अथवा ऐसा कहकर इसे टाल दूं कि, आपके धर्मानुष्ठानोंकी मुझे आवश्यकता नहीं है, इसलिये इस विषयमें अब आपको मुझसे कुछ भी नहीं कहना चाहिये। अथवा विना समयके बेमौके तुमने यह बात कही है, यह बतलानेके लिये क्रोध-सूचक भौंहें चढा लूं? न जाने यह श्रमण मेरे इन वचनोंपर ध्यान देकर अपने ठगाईके बुरे अभिप्रायोंको कैसा छोड़ता है और कैसे मुझे मुक्त करता है।"

यह बेचारा जीव गहरी मूर्खताके कारण नहीं जानता है कि, वे ज्ञानवान् धर्माचार्य संसारके समस्त पदार्थोंको तुषकी (चावलके ऊपरकी भुसीकी) मुट्ठीके समान सारहीन जानते है। उनका अन्तः-करण अतुल संतोषामृतसे तृप्त रहता है। वे विषके समान विषयों-के विषम विपाकको (बुरे परिणामको) जानते हैं। उनका चित्त मोक्ष पानेके लिये अतिशय लवलीन रहता है, इसलिये वे सबको समान समझकर और अत्यन्त इच्छारहित होकर सच्चे मार्गका उप-देश दिया करते हैं, और इन्द्रमें तथा भिखारीमें कुछ भी भेद नहीं

समझते हैं-दोनोंको बराबर समझते हैं। बड़ी भारी ऋद्धिके धारक देवोंमें और धनरहित गरीबोंमें विभागकल्पना नहीं करते हैं- अर्थात् कुछ अन्तर नहीं समझते है। चक्रवर्ती और रंकमें अन्तर नहीं बतलाते है। परम ऐश्वर्यवान् दानीमें और कंजूस मनुष्यमें आदर और अनादरका वर्ताव नहीं करते है। उनके विचारमें बड़ा भारी ऐश्वर्य दरिद्रताके समान है, अमूल्य रत्नोंकी राशियां कठोर पत्थरोंके ढेरके समान हैं, ताये हुए सोनेके कूट मिट्टीके ढेलोंके सदृश हैं, धान्यका संग्रह नमककी राशियोंके तुल्य हैं, चादीका संचय धूलिके पुज सरीखा है, चौपाये और कुप्य (सोने चांदीके सिवाय दूसरी धातुएं) आदि पदार्थ सारहीन कूड़ाकर्कटके तुल्य है और रतिके रूपको भी पराजित करनेवाली सुन्दर स्त्रियां काठके पुराने स्तंभों स-रीखी है। ऐसी दशामें वे जो सुन्दर उपदेश देनेमें प्रवर्त रहते है, इसका उन्हें दूसरोंकी भलाई करनेका जो व्यसन पड़ गया है, उसके सिवाय और कोई दूसरा कारण नहीं है। वे स्वार्थका (अपने आत्माके कल्याणका) सम्पादन भी वास्तवमें स्वाध्याय, ध्यान, तप तथा चारित्र आदि अन्य द्वारोंसे करते है। इससे सिद्ध है कि, वे सांसारिक स्वार्थ सम्पादनके लिये उपदेशादि कार्य नहीं करते है। और उनके हृदयमें लाभ आदिकी सारी ही अभिलाषाओंको अवकाश नहीं मिल सकता है। परन्तु यह अतिशय अंधबुद्धि जीव ये सब बातें नहीं जानता है, इसलिये सद्गुरुओंका उदार अभिप्राय नहीं जान करके अपने चित्तकी अतिशय ओछाई तथा दुष्टताके अनुसार उनके चित्तको भी अपने समान समझ करके महामोहके वश उन्हें अतत्त्वदर्शी शैव, ब्राह्मण, बौद्ध और दिगम्बरोंके समान मान लेता है। जब यह जीव कर्मग्रन्थिका भेद कर चुकता है और दर्शनमोहनीयके तीन

पुंज करके मिथ्यात्व पुंजमें वर्तमान रहता है, तब इसके ऊपर कहे हुए सारे विकल्प हुआ करते हैं।

इसके पश्चात् उक्त प्रकारके विकल्प करनेवाले जीवके फिर मिथ्यात्वका विष फैलता है, जिसके वशसे यह मुनिप्रणीत दर्शनका पक्षपात शिथिल कर देता है, पदार्थोंके स्वरूपके जाननेकी इच्छा छोड़ देता है, सद्धर्ममें लवलीन रहनेवाले जीवोंका तिरस्कार करता है, विचारहीन (अन्यधर्मी) जनोंका सत्कार करता है, पहले जो थोड़ेसे अच्छे कार्य करता था, उनके करनेमें प्रमाद करता है, भद्र परिणामोंको छोड़ देता है, विषयोंमें अतिशय लवलीन हो जाता है, उनके (विषयोंके) धनकंचन आदि साधनोंको तत्त्वबुद्धिसे देखता है अर्थात् समझता है कि, सुखप्राप्तिके वास्तविक कारण ये ही है, और ऐसा ही (विषयसम्बन्धी) उपदेश देनेवाले गुरुओंका आश्रय लेता है, उनके वचनोंको प्रतारणारूप (ठगाईरूप) नहीं किन्तु सच्चे हितकारी समझकर सुनता है, धर्मकी निन्दा करनेवाले वचन कहता है, धर्म गुरुओंके मर्मस्थानोंको (गुह्य बातोंको) उघाड़ता है, झूठा विवाद करके प्रतिकूल बना रहता है और इसलिये गुरुओंके द्वारा पदपदपर अपमानित होता है। उस समय (अपमानित होने पर) चिन्तवन करता है कि, उत्तम पद्धतिसे रचे हुए बहुतसे ग्रन्थ जिनके पास हैं, ऐसे ये गुरु मेरे जैसे पुरुषसे वादमें नहीं हटाये जा सकते हैं, इसलिये ये मुझे झूठे विकल्पोंसे ठगकर कपटकलासे अपना भक्ष्य बना लेंगे अर्थात् अपने पंजेमें फँसा लेंगे। अतएव मुझे दूरहीसे इन्हें छोड़ देना चाहिये, घर आनेसे रोक देना चाहिये, दिख पड़ें तो भी इनसे बातचीत नहीं करना चाहिये और इनके नामका भी सहन नहीं करना चाहिये, अर्थात कोई इनका नाम लेवे, तो उसे दश गालियां

सुनाना चाहिये। इस प्रकार कुभोजनके सदृश धन विषय स्त्री आदिमें मोहित और उनकी रखवाली करनेमें तत्पर रहनेवाला यह जीव महामोहके वशवर्ती होकर सदुपदेश देनेवाले गुरुओंको ठग समझकर रौद्रध्यान करने लगता है। उस समय धर्माचार्य महाराज इसे ज्ञानचेतनारहित काठके गड़े हुए खड़े खंभेके समान देखते है। और इसलिये उनकी दया सुन्दर परमान्नरूप सद्धर्माचरण करनेका उपदेश देती है परन्तु यह बेचारा जीव उसे नहीं जानता है। ज्ञानियोंके लिये इससे अधिक आश्चर्यकारक विषय और क्या होगा कि, यह जीव महानरकमें डालनेवाले धन विषयादिकोंमें तो लुब्ध होता है, और सद्गुरुकी दयासे पाये हुए और अनन्त सुखमय मोक्षके देनेवाले सदनुष्ठानोंकी अर्थात् अच्छे आचरणोंकी अवहेलना करता है।

आगे कहा है कि.—"धर्मबोधकरने ऐसा असंभव वृत्तान्त प्रत्यक्ष देखकर सोचा कि, यह भिखारी इस परमान्नको जो कि आदरसे दिया जाता है, क्यों नहीं लेता है? इसका आत्मा पापसे हता गया है, इसलिये निश्चयपूर्वक जान पडता है कि, यह भोजन इसके योग्य ही नहीं है।" जीवके विषयमें भी यह सब इस प्रकारसे बराबर घटित होता है कि:—ऊपर कहे अनुसार विस्तारयुक्त धर्मोपदेशसे अथवा दूसरे किसी कारणसे भी जब सुधर्मगुरु इस जीवको भद्रभावोंसे भ्रष्ट तथा विपरीत आचरण करनेवाला देखते हैं, तब उनके हृदयमें इस प्रकारके भाव होते है कि, यह जिनेन्द्रदेवके धर्मको धारण करनेका पात्र नहीं है, क्योंकि इसका कल्याण होनेवाला नहीं है। अच्छा होनहार नहीं है—अच्छी गतिमें जानेके योग्य नहीं है, क्योंकि इसे कुगतिमें जाना है। धर्मात्माओंके द्वारा संस्कारित होनेके योग्य नहीं है, क्योंकि इसे बड़े बुरे २ विकल्प उठा करते हैं। अतएव इस मोही जीवके विषयमें मेरा परिश्रम करना व्यर्थ है।

फिर बहुत विचार करके धर्मबोधकरने निश्चय किया कि, "इस बेचारेका यह दोष नहीं है। यह बाहर और भीतर सर्वत्र नाना रोगोंसे घिर रहा है, इसलिये उनकी वेदनासे विह्वल होकर कुछ भी नहीं सोच समझ सकता है। यदि यह नीरोग होता, तो जब जरासे भीखके बुरे भोजनके मिल जानेसे सन्तुष्ट हो जाता है, तब इस अमृतके समान मीठे परमान्नको क्यों नहीं ग्रहण करता?" धर्माचार्य महाराजका भी पर्यालोचना करनेसे ऐसा ही विचार होता है कि, यद्यपि यह जीव विषयादिकोंमें गीधता है, बुरे मार्गसे चलता है, और दिया हुआ उपदेश नहीं मानता है, परन्तु इसमें इस बेचारेका दोष नहीं है—मिथ्यात्वादि भावरोगोंका दोष है। उनके कारण इसकी चेतना नष्ट होगई है, इससे यह कुछ भी नहीं जान सकता है। यदि यह उक्त मिथ्यात्वादिरोगोंसे रहित होता, तो अपने हितको छोड़कर अपना अहित करनेमें क्यों प्रवृत्त होता?

आगे वह धर्मबोधकर फिर विचार करने लगा कि—"यह भिखारी नीरोग कैसे हो? इसका विचार करते हुए उसे स्मरण हो आया कि, अहो! इसके रोगोंके दूर करनेका उपाय भी तो है! मेरे पास तीन बहुत अच्छी औषधियां हैं। उनमें एक **विमलालोक** नामका उत्कृष्ट अंजन है, जो विधिपूर्वक आँजनेसे नेत्रके सारे रोगोंको नाश करता है और उन्हें सूक्ष्म, दूरवर्ती, भूतकालवर्ती और भविष्यतकालवर्ती पदार्थोंके भी देखनेमें चतुर बना देता है। दूसरा **तत्त्वप्रीतिकर** नामका तीर्थजल है, जो विधिपूर्वक पीनेसे शरीरके सारे ही रोगोंको हलका कर देता है, दृष्टिको पदार्थके यथार्थ स्वरूपके ग्रहण करनेमें चतुर बनाता है, और उन्मादको तो अवश्य ही नष्ट कर देता है। और तीसरा इसी कन्याका लाया हुआ **महाकल्याणक** नामका

इसलिये इस दुखी जीवको ऐसे अनेक गुणोंवाले दर्शन–ज्ञान–चरित्र-का प्रयोग करके मै अशुभ कर्मोंके जालसे छुड़ा दूं, इस प्रकार धर्माचार्य महाराज भी अपने चित्तमें निश्चय करते है।

आगे कहा है कि "धर्मबोधकरने सलाईकी नौकपर अंजनको लगाकर उस भिखारीकी आँखोंमें उसके इधर उधर बहुत गर्दन हिलानेपर भी आँज दिया, जिससे कि उसे उसी समय अंजनकी सुखदायकतासे शीतलतासे, और अचिन्तनीय गुणोंके संयोगसे चेतना आ गई। इससे उसकी आँखें खुल गईं और उनमें जो पीड़ा हो रही थी, वह कुछ शान्त हो गई। तब विस्मित होकर वह विचार करने, लगा कि, यह क्या हो गया?" इसकी यहांपर इस प्रकार योजना करना चाहिये कि:—पहले तो यह जीव भद्रक परिणाम धारण करता है, जिनेन्द्र भगवानके धर्ममें रुचि करता है, जिनेन्द्रके बिम्बोंको नमस्कार करता है, साधुओंकी उपासना करता है, धर्म–पदार्थके जाननेकी इच्छा करता है, दानादि करनेमें प्रवृत्त होता है, और धर्मगुरुओंके हृदयमें अपने विषयमें ऐसी बुद्धि उत्पन्न करता है कि, यह पात्र है। परन्तु पीछे अशुभ कर्मोंके उदयसे धर्मके लम्बे चौड़े उपदेशादिका निमित्त मिल जानेसे पूर्वोक्त भद्रपरिणामोंसे भ्रष्ट हो जाता है। इससे चैत्यालयमें नहीं जाता है, साधुओंकी वस्तिकाओंमें प्रवेश ही नहीं करता है, साधुओंको देखकर भी उनकी वन्दना नही करता है, श्रावकोंको आदरपूर्वक नहीं बुलाता है, घरमें जो दानादिक होता है, उसे बन्द कर देता है, धर्मगुरुओंको दूरहीसे देखकर खिसकता है, और उनके पीछे उनकी निन्दा भी करता है। इसे इस प्रकार ज्ञानचेतनासे हीन समझकर धर्मगुरु अपनी बुद्धिरूपी सलाईपर उसके प्रतिबोधित करनेका उपायरूप जो अंजन है, उसको लगाते हैं–अर्थात्

अपनी बुद्धिसे उसके सुलटानेका उपाय करते हैं। वह इस तरहसे कि:—कभी मन्दिर वा वस्तिकासे बाहिर किसी स्थानमें विना समयके जाते आते मिल जानेसे उसके साथ प्रियसंभाषण करते हैं, हम तुम्हारे हितचाहनेवाले हैं, ऐसी बुद्धि प्रदर्शित करते हैं, सरलभावोंको प्रगट करते है, इस प्रकारका विश्वास उत्पन्न कराते हैं कि हम ठग नहीं है और फिर उसके भावोंको लक्ष्य करके किसी दूसरे पुरुष से (अन्योक्तिरूपसे) कहते है कि, हे भद्र.! तू साधुओंकी वस्तिकामें क्यों नहीं आता है? अपना हित क्यों नहीं करता है? इस मनुष्य जन्मको क्यों व्यर्थ खोये देता है? क्या तू शुभ और अशुभमें अर्थात् पुण्य और पापमें क्या अन्तर है, यह नहीं जानता है? पशु भावका अनुभव क्यों कर रहा है–अर्थात् इस तरह पशुओंके समान विना विवेकके अपना जीवन क्यों व्यतीत करता है? हम वारंवार समझाते हैं कि, तेरे लिये यही (उपदेश) पथ्य (हितकारी) है। यह सब सलाईपर अंजन लगानेके समान समझना चाहिये। यहां उपदेशरूप कारणमें सम्यग्ज्ञानरूप कार्यका उपचार किया गया है। अभिप्राय यह है कि, यथार्थमें सम्यग्ज्ञानरूप अंजन पथ्य है, परन्तु उपदेश उसका कारण है, इसलिये उसको भी पथ्य कह दिया है।

गुरुमहाराजका ऊपर कहा उपदेश सुनकर यह संसारीजीव आठप्रकारके उत्तर (जबाब) सोचकर बोला:–"हे श्रमण! १ मुझे अवकाश बिलकुल नहीं मिलता है, २ भगवान्के समीप मुझसे नहीं आया जाता है, ३ जिन्हें किसी प्रकारका व्यापार नहीं है अर्थात् जो निठल्ले रहते हैं, उन्हें धर्मकी चिन्ता होती है, ४ मेरे जैसे यदि घरसे कहीं अन्यत्र आया जाया करें, तो मेरा कुटुम्ब ही भूखे मर जाय–घरके जो हजारों काम हैं, उनमेंसे एक भी नहीं चले, ६ व्यापार

नहीं हो सके, ७ राजसेवा नहीं बन सके और ८ खेती आदिकार्य बाकी रहकर बढ़ जावें।" जीवके इन टालटूलके उत्तरोंको अंजन लगाते समय भिखारीके इधर उधर सिर हिलानेके समान समझना चाहिये। जीवके ये वचन सुनकर दयालु धर्मगुरु यह सोचकर कि, यह बेचारा पुण्यहीन जीव दुर्गतिको चला जायगा, इसलिये इसकी उपेक्षा नही करना चाहिये–अर्थात् उदास होकर इसे छोड़ नहीं देना चाहिये; बोले कि:–"हे वत्स! यद्यपि ऐसा ही होगा अर्थात् तुझे अवकाश वगैरह नहीं मिलता होगा, तो भी मेरे अनुरोधसे जो मै एक बात कहता हूं, उसे कर। वह यह कि, तुझे रात दिनमें केवल एक बार उपाश्रय वा वसतिकामें आकर साधुओंका दर्शन कर जाना चाहिये। बस यही एक प्रतिज्ञा ग्रहण कर ले, अब हम और कुछ भी तुझसे ग्रहण करनेके लिये नहीं कहेंगे।" तब उसने 'अब ऐसे विकट मार्गमें आ पड़नेपर क्या करना चाहिये,' ऐसा सोचकर इच्छा न रहते भी उक्त प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली, अर्थात् प्रतिदिन उपाश्रयमें जाकर साधुओंका दर्शन करना स्वीकार कर लिया। जीवने यह जो गुरुमहाराजके वचनका गौरव किया, अर्थात् उसे मान लिया, सो भिखारीका अपनी आँखोंमें अंजन अँजानेके समान है। तदनन्तर प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेनेपर वह प्रतिदिन साधुओंके उपाश्रयमें जाने लगता है। वहां अच्छे २ साधुओंका समागम रहनेमें, उनकी विनावनावटकी सच्ची क्रियाओंके देखनेसे, उनके निष्पृहता (इच्छारहितपना) आदि गुणोंका निरीक्षण करनेसे और स्वयं बाँधे हुए पाप परमाणुओंकी निर्जरा होनेसे उसको विवेककी प्राप्ति होती है। इसे गई हुई चेतनाके फिर आनेके समान समझना चाहिये। इसके पश्चात् इस जीवको जो वारंवार धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छा होती है, उसे आँखें खोलनेके समान, जो क्षणक्षणमें अज्ञानका नाश होता है,

उसे नेत्ररोगोंकी पीड़ाके धीरे२ उपशम वा कम होनेके समान और ज्ञानके होनेपर जो चित्तमें थोड़ासा संतोष होता है, उसे विस्मित होनेके समान समझना चाहिये।

और भिखारीकी कथामें जो यह कथन किया है कि, "इतना सब होनेपर भी उस भिखारीका अपनी भीखकी रखवाली करनेका अभिप्राय जो उसे बहुत कालसे अभ्यस्त हो रहा था, सर्वथा नष्ट नहीं हुआ। उसके वशीभूत होकर वह उस पुरुषपर फिर २ कर शंका करने लगा कि, कहीं यह मेरे भीखका भोजन छीन न लेवे, और वहांसे भाग जानेकी इच्छा करने लगा।" सो मेरे इस जीवके विषयमें भी इस तरहसे घटित होता है कि.—जबतक यह जीव प्रशम (शांति), संवेग (संसारसे भयभीतता), निर्वेद (वैराग्य), अनुकम्पा (दया) और आस्तिक्य लक्षणोंसे युक्त अधिगमज[1] सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं करता है, तब तक व्यवहारसे श्रुतमात्रकी प्राप्ति होनेपर भी बहुत थोड़ासा विवेक होनेके कारण भिखारीके भीखके भोजन समान धन, विषय, स्त्री आदिमें जो परमार्थबुद्धि है, अर्थात् ऐसा श्रद्धान है कि, ये वास्तवमें सुखके देनेवाले है, वह दूर नहीं होती है। और इस बुद्धिसे ग्रसित हुआ जीव जैसा कि, स्वयं उसका मलीन चित्त है, उसीके अनुसार, जिनके हृदयमें किसी प्रकारकी अभिलाषा नहीं है, ऐसे मुनिराजोंके विषयमें बारबार ऐसी शंका करता है कि, यदि मै इनके समीप रहूंगा, तो ये मुझसे कुछ न कुछ मांगेंगे। और इससे उनके साथ गहरा परिचय छोड़ देनेकी इच्छासे उनके पास भी बहुत समय तक नहीं बैठता है।

---

१ जो सम्यक्त्व दूसरेके उपदेशादिसे होता है, उसे अधिगमज कहते हैं।

और जो कहा है कि:—"वेह धर्मबोधकर उस भिखारीको अपने अंजनके माहात्म्यसे सचेत हुआ देखकर बोला कि, हे भद्र! इस जलको पी ले, जिससे तेरा शरीर स्वस्थ हो जाय। परन्तु उसने न जाने इसके पीनेसे मेरा क्या होगा, इस प्रकारकी शंका करके उस 'तत्त्वप्रीतिकर' जलको नहीं पिया, जो कि सारे तापोंका शमन करनेवाला था। निदान उस दयालु धर्मबोधकरने **'दूसरेकी भलाई यदि बलात्कार करनेसे भी हो सके, तो करनी चाहिये'** ऐसा सोच कर अपने सामर्थ्यका प्रयोग किया और उससे उसका मुंह फाड़कर वह जल पिला दिया। उसका आस्वादन करते ही निष्पुण्यकका महा उन्माद नष्ट सरीखा हो गया, शेष रोग हलकेसे पड़ गये, और दाहकी पीड़ा शान्त हो गई। इससे वह स्वस्थाचित्तसरीखा हो गया और फिर विचारने लगा।" यह सब वृत्तान्त जीवके विषयमें इस प्रकारसे योजित करना चाहिये कि—

यह जीव थोड़ासा अवकाश पाकर अच्छे साधुओंके उपाश्रयोंमें जाता है। वहां उनकी संगतिमे पाये हुए केवल शास्त्रोंके पढ़नेसे थोड़ासा ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु सम्यग्दर्शनके पाये विना धन स्त्री विषय आदिमें परमार्थदृष्टि रखता है अर्थात् उन्हें वास्तवमें हितकारी समझता है। इसलिये उनमें जो उसके ममतारूप परिणाम होते हैं, उनसे अच्छे साधुओंको भी वे कुछ माग न लेवें, ऐसी शंकाकी दृष्टिसे देखता है और इसलिये उनसे धर्मकथाके व्याख्यान सुनना छोड़ देता है जब धर्माचार्य महाराज इस जीवको ऐसी अवस्थामें देखते है, तब अपनी दयालुतासे उनका यह विचार होता है कि, यह अच्छेसे अच्छे गुणोंका पात्र हो जाय, और इसलिये वे जब कभी उसे अपने पास देखते हैं, तब किसी दूसरे पुरुषको

१ इसका सम्बन्ध २६ वें पृष्ठके पहले पारिग्राफसे है।

उद्देश्य करके उसे सुनाते हुए सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन करते हैं। वह कितना दुर्लभ है अर्थात् कितनी कठिनाईसे प्राप्त होता है, यह प्रगट करते हैं, उसके पानेवालेको स्वर्गमोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा दिखलाते हैं और इस लोकमें भी वह चित्तको अतिशय विश्रान्तिका करनेवाला है, ऐसा सूचित करते हैं। यह सब उस सचेत हुए दरिद्रीको पानी पानेके लिये बुलानेके समान समझना चाहिये।

धर्मगुरुके उक्त वचन सुनकर इस जीवकी बुद्धि डाँवाँडोल हो जाती है। यह सोचता है कि, यह साधु अपने इस सम्यग्दर्शनके बहुत २ गुण वर्णन करता है, सो तो ठीक है। परन्तु यदि मै सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर लूंगा, तो यह मुझे अपने वशमें आया हुआ समझकर भोजन तथा धनादि मांगने लगेगा। तब मै ऐसी ठगाईमें क्यों पड़ूं, जिसमें परलोकमें सुखादि मिलनेकी आशासे, पाये हुए धनादि पदार्थ छोड़ना पडते हैं? इस आत्मप्रवंचनासे मुझे क्या प्रयोजन है? ऐसा सोचकर वह सुनी अनसुनी करके उस सम्यग्दर्शनको अंगीकार नही करता है। इसे निष्पुण्यकके विषयमे जल पीनेके लिये बुलानेपर भी उसके पीनेकी इच्छा न करनेके समान समझना चाहिये।

तदनन्तर धर्मगुरु विचार करते है कि, "फिर इसको बोध करनेका अर्थात् सुलटानेका और कौन उपाय होगा?" आगे पर्यालोचना करते २ अर्थात् सोचते २ वे अपने हृदयमें उपायका निश्चय कर लेते है और फिर जब किसी अवसरपर वह साधुओंके उपाश्रयमें आनेवाला होता है, तब दूसरे लोगोंको उद्देश्य करके उसके आनेके पहलेहीसे धर्मोपदेशका प्रारंभ कर देते हैं:—"हे प्राणियो! दूसरे सब विकल्पोंको छोड़कर सुनो। संसारमें **अर्थ, काम, धर्म** और **मोक्ष** ये

चार पुरुषार्थ हैं। कोई २ लोग मानते है कि, इनमेंसे **अर्थ** (धन) ही सबसे मुख्य पुरुषार्थ है।" इसी समय वह जीव भी आ पहुंचता है और व्याख्यान सुनने लगता है। धर्मगुरु आगे कहते है कि:—
"जो पुरुष धनके भंडारसे शोभित होता है अर्थात् जिसके पास बहुत-सा धन होता है, वह चाहे वृद्धावस्थाके कारण अतिशय जीर्ण-शरीर हो गया हो, परन्तु आश्रित पुरुषोंको पच्चीस वर्षके उन्मत्त जवान सरीखा प्रतीत होता है। अतिशय कायर डरपोंक हो, तो भी उसकी प्रशंसा की जाती है कि, इन्होंने बड़े २ युद्धोंमें साहसको नहीं छोडा है और इनके बल तथा पराक्रमकी किसीसे तुलना नहीं हो सकती है। 'सिद्धमातृका' अर्थात् अ **आ इ ई उ ऊ** आदि वर्णमालाका उच्चारणमात्र करनेकी भी शक्ति न हो, तो भी बन्दीजन (भाट) विरद पढ़ते है कि, आपकी बुद्धि समस्त शास्त्रोंके अर्थका अवगाहन करनेमें चतुर है। अर्थात् आप सारे शास्त्रोंका रहस्य जानते है। ऐसा बुरा रूप हो कि, शेठजी किसीसे देखे भी नहीं जाते हों, तो भी चाटुकार (खुशामद) करनेवाले सेवक अनेक हेतु देकर सिद्ध करते है कि, आप काम-देवके भी रूपको जीतनेवाले है। प्रभावकी (रौबकी) गंध भी न हो तो भी धनके लालची लोग कहते है कि, आपका प्रभाव समस्त संसारके पदार्थोंको प्राप्त करा देनेवाला है। नीच घटदासी अर्थात् पानी भरनेवाली कहारिनके पुत्र हों, तो भी धनके प्रेमी लोग स्तुति करते हैं कि, आप अतिशय प्रसिद्ध और बड़े भारी ऊंचे वंशमें उत्पन्न हुए हैं। बन्धुताका सात पीढ़ी तक किसीसे कोई सम्बन्ध न हो, तो भी सब लोग अपना परमबन्धु (कुटुम्बी) समझकर सत्कार करते हैं। यह सब भगवान **धन-देवकी** लीला है। और

एकसा पुरुषत्व होनेपर और एक बराबर हाथ पाँव नाक कान आदि अवयव होनेपर भी हम देखते हैं कि, एक पुरुष दाता है और दूसरा याचक—भिखारी है, एक राजा है और दूसरा पयादा है, एक उपमा-रहित शब्दादि विषयोंको भोगनेवाला ह और दूसरा अपने कठिना-ईसे भरे जाननेवाले पेटरूपी गड्ढेको भी नहीं भर सकता है, एक पालनेवाला है और दूसरा पलता है; इत्यादि जितने अन्तर दिखलाई देते है, वे सब **धन महाराज** ही अपने रहने और न रहनेसे करते है। अतएव सब पुरुषार्थोंमें **धन** ही प्रधान पुरुषार्थ है। और इसी लिये कहा है:—

अर्थाख्यः पुरुषार्थोऽयं प्रधानः प्रतिभासते ॥
तृणादपि लघुं लोके धिगर्थरहितं नरम् ॥

अर्थात्—यह अर्थ (धन) नामका पुरुषार्थ ही सबसे प्रधान जान पड़ता है। इस संसारमें जिसके पास धन नहीं है, वह एक ति-नकेसे भी हलका है। उसको धिक्कार है।"

आचार्य महाराजके मुखसे निकली हुई यह अर्थ पुरुषार्थकी प्रशंसा सुनकर यह जीव चिन्तवन करने लगा कि, 'वाह! बहुत अच्छे प्रस्ता-वका कथन करना प्रारंभ किया है' और फिर ध्यान लगाकर सुनने लगा, सुनकर समझने लगा, और समझ करके यह सूचित करनेके लिये कि 'मै समझ गया हूं' गर्दन हिलाने लगा, आंखें फाड़ने लगा, मुखको विकसित करने लगा अर्थात् मुसकराने लगा, और 'अच्छा कहा!' 'अच्छा कहा!' इस प्रकार धीरे २ कहने लगा। इन चिन्होंसे ज्ञानवान् गुरु महाराजने यह जान लिया कि, इसे व्याख्यान सुननेका कौतूहल उत्पन्न हो गया है और इसलिये उन्होंने अतिशय आदर वा प्रेमके साथ अपना व्याख्यान प्रारंभ

किया कि:-"हे प्राणियों! और कोई २ लोग ऐसा मानते हैं कि, **काम** (पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन) ही सबसे प्रधान पुरुषार्थ है। उनके विचार इस प्रकारके होते हैं कि, जबतक पुरुष सुन्दर स्त्रियों-के मुखकमलोंके परागका स्वाद लेनेके लिये भ्रमरसरीखी क्रीड़ा नहीं करता है, तब तक वह वास्तवमें पुरुष नहीं हो सकता है। क्योंकि धन जोड़नेका, नाना प्रकारकी कलाएं सीखनेका, पुण्य कमानेका, और इस मनुष्य जन्मके पानेका, वास्तवमें **काम** ही श्रेष्ठ फल है। क्योंकि यदि ये सब बातें अच्छी भी हुईं, अर्थात् धनादि बहुतसा भी हुआ, परन्तु कामकी प्राप्ति नहीं हुई, तो उनका होना किस कामका? बल्कि जिन लोगोंका चित्त कामसेवन करनेमें तयार रहता है, उन्हें उस कामके साधनभूत धन, सोना, स्त्रियाँ आदि पदार्थ उनके योग्य होनेसे अपने आप ही आकर प्राप्त हो जाते है। इस बातको बाल गोपाल सब ही जानते है कि, '**संपद्यन्ते भोगीनां भोगाः**' अर्थात् जो भोगी है, उन्हें भोग मिल ही जाते है। और भी कहा है कि:—

स्मितं न लक्षेण वचो न कोटिभि—
र्न कोटिलक्षैः सविलासमीक्षितम्।
अवाप्यतेऽन्यैरदयोपगूहनं
न कोटिकोट्यापि तदस्ति कामिनाम्॥

अर्थात्—दूसरे पुरुषोंको जो मन्द मुसक्यान लाख रुपये खर्च कर-नेसे प्राप्त नहीं हो सकती है, जो मीठा बोल करोड़ों रुपयोंसे भी श्रवण-गोचर नही हो सकता है, और जो विलास (नखरा) युक्त कटाक्ष लाखों करोड़ों रुपयोंसे भी निक्षिप्त नहीं हो सकता है, और जो निष्ठुर-ताका आलिंगन कोटिकोटी (कोड़ाकोड़ी) रुपयोंसे भी लभ्य नहीं हो सकता है, कामी पुरुषोंको वह सब सहज ही प्राप्त हो सकता है।

तब कामियोंको किस बातकी कमी है ? अतएव काम पुरुषार्थ ही सबसे मुख्य है । और इसी लिये कहा है कि:—

कामाख्यः पुरुषार्थोऽयं प्राधान्येनैव गीयते ।
नीरसं काष्ठकल्पं हि धिक्काम विकलं नरम् ॥

अर्थात्—यह काम पुरुषार्थ ही सबसे प्रधान कहा जाता है । जो लोग कामपुरुषार्थसे रहित है, वे सूखे हुए काठके समान हैं। उन्हें धिक्कार है।

यह सुनकर यह जीव हर्षकी अधिकताके कारण अपने हृदयसे भी बाहर होगया अर्थात् खुशीके मारे अपने आपेमें न समाया और प्रकाशरूपसे बोल उठा – "भट्टारक महाराजने बहुत अच्छा कहा ! बहुत अच्छा कहा ! बहुत समयके पीछे आज यह सुन्दर व्याख्यान आरंभ हुआ है । यदि आप ऐसा व्याख्यान प्रतिदिन देंगे, तो मैं अवकाशरहित होनेपर भी अर्थात् मुझे फुरसत नहीं मिलेगी तो भी मन लगाकर सुना करूंगा।" इस सब कथनको धर्माचार्य महाराजके द्वारा जीवके शक्तिपूर्वक मुँह खोले जानेके समान समझना चाहिये। (और इसे सुनकर जीवने जो मुंहसे प्रशंसा प्रगट की है, सो भिखारीका मुंह खोलना है।)

इस जीवने व्याख्यानसे प्रसन्न होकर जब इस प्रकार कहा, तब धर्माचार्य महाराजके मनमें यह बात आई कि, महामोहकी चेष्टा देखो, जो उसके मारे हुए प्राणी केवल प्रसंगवश कहीं हुई अर्थ और कामकी कथाओंमें तो लवलीन हो जाते हैं परन्तु यत्नसे (उसीके उद्देश्यसे) कही जानेवाली धर्मकथामें नहीं होते । हमने तो अपनी धर्मकथाके वर्णनमें प्रसंग पाकर पहले अर्थ (धन) और काममें प्रीति करनेवाले क्षुद्र प्राणियोंके अभिप्राय वर्णन किये हैं,

परन्तु इस बेचारेने उन्हीं अभिप्रायोंको सुन्दर समझ लियाँ है। अस्तु। तो भी यह जो किसी तरहसे सुननेके लिये तत्पर हो गया है, सो सामान्य बात नहीं है। हमारा परिश्रम सफल हो गया है। और जो इसको प्रतिबोधित करनेका उपायरूप बीज सोचा गया था, उसमें अंकुर निकल आये हैं। अब यह मार्गपर आ जावेगा। गुरुमहाराज ऐसा मनमें विचार कर कहते हैं कि:—"हे भद्र! जो पदार्थ जिस रूपमें होता है, हम उसे उसी रूपमें वैसाका वैसा प्रकाशित करते है। हम कुछका कुछ मिथ्या कहना नहीं जानते हैं। तब यह जीव चित्तमें कुछ विश्वास हो जानेसे कहता है कि, "हे भगवन् आप जैसा कहते है, वैसा ही है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।" गुरुमहाराजने कहा, "भद्र! यदि ऐसा है, तो कहो, अर्थ और कामका माहात्म्य तुम्हारी समझमें आ गया?" इसने कहा, "हां! बहुत अच्छी तरहसे!" गुरुमहाराजने कहा, "हे सौम्य! हमने चारों पुरुषार्थोंके कहनेका उपक्रम किया था, जिनमेंसे दोका स्वरूप कहा जा चुका है। अब तीसरेका स्वरूप कहा जाता है, सो भी तुम्हें एकचित्त होकर सुनना चाहिये।" इसने कहा, "भगवन्! मै सावधान हूं, आप कहनेका प्रारंभ कीजिये।" तब आचार्य महाराज कहने लगे:—"हे लोगो! कोई २ लोग ऐसा मानते है कि, **धर्म** ही सबसे प्रधान पुरुषार्थ है। वे कहते हैं कि, यदि धर्म प्रधान नहीं होता तो जीवपनेसे समान होनेपर भी क्या कारण है कि, कोई पुरुष तो ऐसे कुलोंमें जन्म लेते हैं, जिनमें कुलक्रमसे—अनेक पीढ़ियोंसे धनका संग्रह चला आता है, जो चित्तको अतिशय आनन्दित करनेके स्थान होते हैं, और सारा संसार जिनका सन्मान करता है, और कोई पुरुष ऐसे कुलोंमें

उपजते हैं, जिनमें कभी धनकी गन्धका भी सबन्ध नहीं हुआ है, जो सारे दुःखोंके भाजन हैं और जिनकी सब लोग निन्दा करते हैं। तथा एक माता पितासे एक साथ उत्पन्न हुए दो सहोदर भाईयोंमें यह विशेषता क्यों दिखलाई देती है कि, उनमेंसे एक तो रूपमें कामदेव सरीखा होता है, शान्तितामें मुनियोंके समान होता है, बुद्धिवैभवमें **अभयकुमारके**[1] तुल्य होता है, गंभीरतामें क्षीर समुद्रके जैसा होता है, स्थिरतामें सुमेरुके शिखरतुल्य होता है, शूरतामें **अर्जुनके** सदृश होता है, धनमें धनद अर्थात् **कुबेरके** समकक्ष होता है, दानमें राजा **कर्णके** समान होता है, निरोगतामें वज्रसरीखे शरीरवाला होता है, और सदा प्रसन्न रहनेमें बड़ी २ ऋद्धियोंके धारी देवोंके तुल्य होता है। इस तरह सारे गुणों और कलाओंसे शोभित होकर वह सब लोगोंके नेत्रों और चित्तोंको आनन्दित करता है। और दूसरा भाई अपनी घिनौनी सूरतसे संसारभरके चित्तको व्याकुल करता है, अपनी बुरी २ चेष्टाओंसे अपने मातापिताको भी दुखी करता है, मूर्खशिरोमणिपनेसे पृथ्वीभरको जीतता है, तुच्छतामें—हलकेपनमें सेंमर और आकके घुओंसे भी बढ़ जाता है, चपलतासे बन्दरोंकी लीलाकी भी हँसी करता है, डरपोंकपनमें चूहोंको भी नीचा दिखलाता है, निर्धनतामें भिखारी जैसा रूप धारण करता है, कंजूसीमें ढक्क[2] जातिके लोगोंसे भी आगे बढ़ जाता है, बड़े २ रोगोंसे घिरा होनेके कारण जब वह

---

१ श्रेणिक महाराजके पुत्र अभयकुमारकी बुद्धिमत्ताका वर्णन श्रेणिकचरित्रमें देखना चाहिये। २ इस पुस्तकके गुजराती अनुवादक महाशयने ढक्क जातिका अर्थ चाडाल जाति किया है। ढक्क (ढाक) एक प्रकारके बाजेका नाम है, इसे अकसर नीचजातिके लोग बजाते हैं। इस लिये ढक्का बजानेवालोंको ढक्क जाति कह सकते हैं। परन्तु हम यह नहीं कह सकते हैं कि, कजूसीमें चांडाल प्रसिद्ध हैं या नहीं।

व्याकुलतासे रोता है, तब उसपर सारे जगतको करुणा आ जाती है, और दीनता व्याकुलता और शोक आदिसे मारा हुआ होनेके कारण घोर नरकोंके समान दुःखोंको सहा करता है। इस तरह सारे दुर्गुणोंका पात्र होनेके कारण 'पापी है,' 'अदर्शनीय है' ऐसा कहकर लोग उसकी निन्दा करते है।"

"और यह भी सोचना चाहिये कि, ऐसे दो पुरुष जो अजेय बल, ज्ञान, पौरुष और पराक्रम आदि सारे गुणोंमें एक बराबर है—किसी बातमें एक दूसरेसे कम नहीं है, जब एक ही साथ धन कमानेके लिये प्रवृत्त होते है, तब क्या कारण है कि उनमेंसे एक तो खेती, पशुपालन, व्यापार, राजसेवा अथवा और भी जो कोई काम करता है, उसीमें सफलता प्राप्त करता है, परन्तु दूसरा उन्हीं कामोंको करके न केवल विफल ही होता है, बल्कि उलटा अपने बापदादाओंका कमाया हुआ जो थोड़ा बहुत धन होता है, उसे भी पूरा कर देता है।"

"इसके सिवाय यह भी विचारना चाहिये कि, कोई दो पुरुषोंको पांचों इन्द्रियोंके उपमारहित स्पर्श, रस, शब्द आदि पाचों विषय जब एक साथ प्राप्त होते है, तब क्या कारण है कि, उनमेंसे एक तो प्रबल शक्ति और बढ़ती हुई प्रीतिवाला होकर उन्हें निरन्तर भोगता है और दूसरा अकालमें ही कृपणता अथवा अन्य किसी रोगादि कारणके उत्पन्न हो जानेसे, चाहता है तो भी उन्हें नहीं भोग सकता है। संसारी जीवोंमें जो ऐसी ऐसी विशेषताएं होती है, उनका कोई प्रत्यक्ष कारण नही दिखलाई देता है, और विनाकारणके कुछ हो नहीं सकता है। क्योंकि यदि विनाकारणके ही ऐसी विशेषताएं हों, तो वे आकाशके समान या तो सर्वदा ही रहना चाहिये, या शशाके (खरगोशके) सींगोंके समान कभी नहीं रहना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि, आकाशके उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं है, इसलिये वह सदा ही रहता है अर्थात् नित्य है और शशाके सींग उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं है, इसलिये उसके सींग कभी होते ही नहीं है। इसी तरहसे विशेषताएँ यदि विना कारणके हों, तो उन्हें हमेशा एकसी रहना चाहिये, अथवा होनी ही नहीं चाहिये। परन्तु ये विशेषताएँ कहीं होती हैं और कहीं नही होती हैं। इससे जान पड़ता है कि, ये सब भेद वा अन्तर निष्कारण नहीं हैं। इनका कोई न कोई कारण अवश्य है।"

इस बीचमें अभिप्राय समझकर जीव बोलाः—"तो भगवन्! उक्त विशेषताओंके होनेका क्या कारण है?" धर्मगुरुने कहाः—"हे भद्र! सुनो, जीवोंमें जो सब प्रकारकी सुन्दर विशेषताएं होती है उन सबका केवल **धर्म** ही एक अन्तरंग कारण है। यह पूज्य धर्म ही इस जीवको अच्छे कुलोंमें उत्पन्न करता है, सारे गुणोंका स्थान बनाता है, इसकी सारी क्रियाओंको सफल करता है, प्राप्त हुए भोगोंको निरन्तर भोगने देता है और दूसरे सब शुभ विशेषोंको अर्थात् सुखसामग्रियोंको प्राप्त करा देता है। और जीवोंमें जो सब प्रकारकी असुन्दर विशेषताएं होती हैं—उनका केवल **अधर्म** ही एक कारण है। यह दुरन्त[1] वा दुष्परिणामी अधर्म ही इस जीवको बुरे कुलोंमें उत्पन्न करता है, सारे दुर्गुणोंका पात्र बनाता है, इसके सब व्यवसायोंको निष्फल कर देता है, पाये हुए भोगोंके भोगनेमें विघ्न करनेवाली अशक्तता वा दुर्बलता उत्पन्न करता है, और अनन्त प्रकारकी बुरी विशेषताओंका संयोग करा देता है। अतएव जिसके बलसे ये समस्त सम्पदाएं प्राप्त होती हैं, वही **धर्म पुरुषार्थ** सबसे प्रधान है। धर्मके विना अर्थ और

---

१ जिसका नतीजा खराब हो।

काम उनके चाहनेवाले पुरुषोंको भी नहीं मिल सकते हैं, परन्तु धर्म जिनके पास होता है, उन्हें ये अर्थ और काम वे नहीं चाहते हैं, तो भी आप ही आप आकर मिल जाते है। अतएव जिन पुरुषोंको अर्थ और कामके सम्पादन करनेकी इच्छा हो, उन्हें यथार्थमें धर्म ही करना चाहिये। इस तरह धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है। यद्यपि अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुखस्वरूप जीवका अपने स्वरूपमें स्थिर करनेवाला जो चौथा **मोक्ष**पुरुपार्थ है, वह ही सारे क्लेशोंका नाश करानेवाला तथा स्वाभाविक और स्वाधीन आनन्दमय होता है, इसलिये प्रधान पुरुषार्थ है; परन्तु वह धर्मका कार्य है अर्थात् धर्मकारण है और मोक्ष कार्य है; इसलिये उसका प्रधानतासे वर्णन करनेपर भी वास्तवमें जो उसका प्राप्त करानेवाला है, वह धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है, ऐसा सिद्ध होता है। भगवान् सर्वज्ञदेवने भी कहा है कि:—जो लोग धन चाहते है, धर्म उनके लिये धनका देनेवाला है, जो कामें चाहते है, उनके लिये सब प्रकारके कामका (इन्द्रियोंके विषयोंका) देनेवाला है और जो मोक्ष चाहते है, उन्हें क्रम क्रमसे मोक्षका भी प्राप्त करा देनेवाला है। अतएव हम कहते हैं कि धर्मकी अपेक्षा अन्य कोई भी पुरुषार्थ मुख्य नहीं है।

धर्माख्यः पुरुषार्थोऽयं प्रधान इति गम्यते।
पापग्रस्तं पशोस्तुल्यं धिग्धर्मरहितं नरम्॥

अर्थात्—यह धर्म नामका पुरुषार्थ ही सबसे प्रधान जान पड़ता है। जो लोग पापोंसे ग्रसित हैं, और पशुओंके समान धर्मरहित हैं, उन्हें धिक्कार है।"

गुरुमहाराजका यह उपदेश सुनकर इस जीवने कहा:—"हे भगवन्! ये अर्थ और काम पुरुषार्थ तो जिनका कि आप पहले

वर्णन कर चुके हैं; साक्षात् दिखलाई देते हैं, परन्तु आपके पीछेसे कहे हुए धर्मपुरुषार्थको तो हमने कहीं भी नहीं देखा है। इसलिये इसका जो स्वरूप हो, उसे बतलाईये।" धर्माचार्य्य बोले:—हे भद्र! जो प्राणी मोहके मारे अन्धे हो रहे हैं, वे इस धर्मको नहीं देख सकते है। परन्तु विवेकियोंके लिये तो यह बिलकुल प्रत्यक्ष है। सामान्यतासे धर्मके तीन रूप दिखलाई देते हैं, **कारण, स्वभाव** और **कार्य**। अच्छे कार्योंका करना (सदनुष्ठान) **कारण** है, सो तो सबहीको दिखता है और **स्वभाव** है, सो दो प्रकारका है, एक साश्रव और दूसरा अनाश्रव। जीवमें शुभ कर्म-परमाणुओंके संग्रह होनेको साश्रव कहते है और पूर्वके कमाये हुए कर्मपरमाणुओंके झड़ जानेको अनाश्रव कहते है। कर्मके इन दोनों स्वभावोंको योगीजन तो प्रत्यक्षरूपसे देखते है और हम जैसे पुरुप अनुमानसे देखते है। और सम्पूर्ण प्राणियोंमें जो सुन्दर विशेपताएं (अच्छे सुखसाधनोंकी प्राप्ति) दिखलाई देती है, सो धर्मका **कार्य** है। ये विशेषताएं प्रत्येक प्राणीमें होती है, इसलिये धर्मका **कार्य** बहुत अच्छी तरहसे दिखलाई देता है। इस तरहसे धर्मके ये कारण, स्वभाव और कार्यरूप तीन धर्म दिखलाई देते हैं, सो क्या तुमने नहीं देखे है, जो कहते हो कि, मैने **धर्म**पुरुषार्थको कहीं नही देखा है। यह कारण स्वभाव और कार्यरूप तीसरा पुरुषार्थ ही **धर्म** कहलाता है। केवल इतनी विशेषता है कि, धर्मके जो तीन रूप हैं, उनमें पहला जो कारणरूप सदनुष्ठान है, उसे ही कारणमें कार्यका उपचार करके धर्म कहते है। जैसे कि समयपर पानी बरसते देखकर लोग कहते हैं कि, 'वर्षा चावल बरसा रही है।' अभिप्राय यह कि, यथार्थमें वर्षा पानी बरसाती है, परन्तु वह पानी

चावलोंकी उत्पत्तिका कारण है, इसलिये कारणमें कार्यका उपचार करके पानी बरसनेको चावल बरसना कहते हैं। और स्वभावके भेदोंमें जो साश्रव स्वभाव कहा है, उसे 'पुंण्यानुबंधीपुण्यरूप' समझना चाहिये, और जो अनाश्रव कहा है, उसे निर्जरारूप समझना चाहिये। दोनों ही प्रकारके स्वभाव किसी भी प्रकारके उपचारके विना साक्षात् धर्म ही कहलाते है। इसी प्रकारसे जीवोंमें जो समस्त सुंदर विशेषताएं होती हैं, अर्थात् निरोगता, विद्वत्ता ऐश्वर्यता आदि अन्तर होते है, उन्हें कार्यमें कारणके उपचारसे धर्म कहते हैं। जैसे यह मेरा शरीर पुराना कर्म है। इस उदाहरणमें यद्यपि पुराने कर्म शरीररूप कार्यके कारण है। परन्तु शरीरमें कर्मरूप कारणका आरोप करके उसे कर्म ही कहते है।

यह सुनकर जीव बोला.—हे भगवन्! धर्मके इन तीन भेदोंमेंसे पुरुषको कौनसा भेद ग्रहण करना चाहिये?

धर्मगुरु—सदनुष्ठान (शुभ आचार) ही उपादेय वा ग्रहण करनेके योग्य है। क्योंकि वह दूसरे दोका भी अर्थात् स्वभाव और कार्यका भी सम्पादन करनेवाला है।

जीव—सदनुष्ठानके कितने भेद है?

धर्मगुरु—हे सौम्य! सदनुष्ठानके दो भेद है, एक साधुधर्म (यतिधर्म वा अनगारधर्म) और दूसरा गृहीधर्म (सागार वा श्रावकधर्म) और इन दोनोंका मूल सम्यग्दर्शन है।

जीव—हे भगवन्! आप सम्यग्दर्शनका उपदेश पहले दे चुके है, परन्तु उस समय मैने ध्यान नही दिया था। इसलिये अब कहिये कि, उसका क्या स्वरूप है?[1]

---

१ इसका स्वरूप पृष्ठ ९८ में कहा जा चुका है।

यह सुनकर धर्माचार्य महाराजने जीवकी प्रथमावस्थाके[1] योग्य जो सम्यग्दर्शनका स्वरूप है, उसको संक्षेपमें कहना प्रारंभ किया:— हे भद्र! जो रागद्वेषमोहआदि दोषोंसे रहित, अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य और अनन्तसुखस्वरूप, और सारे संसारके जीवोंपर दया करनेमें तत्पर रहनेवाले सकल[2]–निष्कल रूप परमात्मा हैं, वे ही सच्चे देव हैं; ऐसी बुद्धिसे उनकी जो भक्ति करना है, तथा उनके ही कहे हुए जो जीव–अजीव–पुण्य–पाप–आश्रव–बंध–संवर–निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ हैं, सो ही सच्चे हैं, ऐसा जो विश्वास होना ह, और उन्होंने जिस सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्गका प्रतिपादन किया है, उसके अनुसार चलनेवाले मुनि ही वन्दनीय है, ऐसी जो बुद्धि है, सो ही **सम्यग्दर्शन** है। भावार्थ यह है कि, वीतरागदेव, उनके कहे हुए तत्त्व और उनके चारित्रके पालने वाले मुनि, इन तीनोंकी श्रद्धा भक्ति करनेको सामान्य सम्यग्दर्शन कहते है। यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य[3] इन पांच बाहिरी चिन्होंसे जाना जाता है कि, अमुक जीवमें है या नहीं। और इसे जो जीव अंगीकार करता है, वह (सम्यग्दृष्टी जीव) जीव मात्रसे मित्रता रखता है, अपनेसे जो गुणोंमें अधिक होते है, उन्हें देखकर हर्षित होता है, दुखियोंपर करुणा करता है, और जो अपना अविनय वा अनादर करते है, उनसे

१ परिणामोंकी मलिनता और उज्ज्वलताकी अपेक्षा जीवकी अनेक अवस्थाए होती हैं, इसलिये उन अवस्थाओमे धारण करनेकी योग्यताके अनुसार सम्यग्दर्शन भी निश्चय व्यवहार तथा सामान्य विशेषकी अपेक्षा अनेक प्रकारका होता है। २ स–कल अर्थात् शरीरसहित परमात्मा तीर्थंकरदेव और निष्कल अर्थात् शरीररहित परमात्मा सिद्ध भगवान्। ३ देव गुरु और धर्मकी श्रद्धाको आस्तिक्य कहते हैं।

मध्यस्थ रहता है। इस तरह मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओंको भाता है। स्थिरता, भगवानके आयतनोंकी सेवा, आगमकुशलता (शास्त्रकी चतुराई), भक्ति, और जिनवाणीकी प्रभावना ये पांच भाव सम्यग्दर्शनको प्रकाशित करते है और शंका,[1] आकांक्षा,[2] विचिकित्सा,[3] पाखंडियोंकी प्रशंसा[4] और स्तुति[5] ये पांच भाव (अतीचार) दूषित करते हैं अर्थात् इनसे सम्यग्दर्शन मलिन होता है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप है और विशुद्ध सम्यग्दर्शन आत्माका केवल एक परिणाम है, जो दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय उपशम तथा क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है और समस्त कल्याणोंको करता है।

भगवान् धर्माचार्यके इस प्रकार कहनेपर इस जीवके हृदयमें भले प्रकार विश्वास हो गया और उस विश्वासके अनुभवसे ही उसके क्लिष्ट कर्मोंका मल नष्ट होकर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गई। धर्मगुरुने जो इस प्रकार तत्त्वोंमें प्रीति अर्थात् श्रद्धान उत्पन्न कराया, सो बलपूर्वक पिलाये हुए उत्तम तीर्थजलके समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस तरह तीर्थजलके पीते ही उस भिखारीका महाउन्माद क्षीण तथा उपशान्त हो गया, उसी प्रकारसे तत्त्वार्थ श्रद्धान के होते ही इस जीवका जो मिथ्यात्वकर्म उदय अवस्थामें था, वह क्षीण हो गया और जो उदयमें नहीं आया था अनुदीर्ण था, उसका उपशाम हो गया। परन्तु तो भी प्रदेशानुभवसे उसका अनुभवन होता

---

१ भगवानके कहे हुए तत्त्वोमे सन्देह करना। २ इस लोक और परलोकसम्बन्धी भोगोकी वांछा करना। ३ आनिष्ट पदार्थोंको देखकर ग्लानि करना। ४ मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानचारित्रादि गुणोंको मनसे प्रगट करना। ५ वचनोंसे प्रगट करना।

रहा । अर्थात् मिथ्यात्वकर्मकी कितनी ही प्रकृति ऐसी हैं, कि उनका विपाक तो नहीं भोगना पड़ता, परन्तु प्रदेशानुभव होता है, सो जीवकी उक्त अवस्थामें मिथ्यात्वका क्षय और उपशम होकर उसका प्रदेशानुभव होता रहा । यह मिथ्यात्वरूपी महा उन्माद अभीतक सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है—नष्टप्राय हुआ है । क्योंकि सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर शेष सारे ही कर्म जो कि रोगरूप है, सूक्ष्म हो जाते है । और इससे जीवको सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे अन्य रोग भी हलके हो गये, ऐसा कहा है । और जिस तरह वह तीर्थजल शीतल था, तथा उससे वह भिखारी स्वस्थचित्त हो गया था, उसी प्रकारसे यह सम्यग्दर्शनपरिणाम चराचर जीवोंकी दुःख-रूप दाहको मिटा देता है, इस कारण अत्यन्त शीतल है, और उसको प्राप्त करके यह जीव दुःखदाहसे रहित होकर स्वस्थचित्त जान पड़ता है ।

तीर्थजल पीकर जब निष्पुण्यक स्वस्थचित्त हुआ तब सोचने लगा कि, "यह पुरुष मुझपर अतिशय स्नेह रखता है और महानुभाव है अर्थात् बहुत ऊंचे विचारोंवाला है, परन्तु मुझ मूर्खने पहले समझा था कि, यह ठग है और इस लोभ दिखलानेके प्रपंचसे मेरा भोजन छीन लेगा । इसलिये मुझ दुष्टचित्तको धिक्कार है । यदि यह मेरी भलाई करनेमें तत्पर न होता, तो अंजन आंजकर मेरी दृष्टिको क्यों अच्छी करता ? और शीतल जल पिलाकर क्यों मुझे स्वस्थ वा शान्त करता ? यह मुझसे बदलेमें अपनी कुछ भलाई नहीं चाहता है । इसकी तो महानुभावता ही ऐसी है कि, वह इसे मेरी भलाई करनेमें तत्पर करती है ।" ऐसा जो पहले दरिद्रीके वर्णनमें कहा गया है; सो जीवके विषयमें भी घटित होता है । क्योंकि सम्यग्द-

र्शनके होनेपर यह जीव भी धर्माचार्य महाराजके विषयमें ऐसा ही चिन्तवन करता है। उस समय पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप जान जानेसे यह जीव रौद्रताको (भीषणताको) छोड़ देता है, मदान्धतासे रहित हो जाता है, अतिशय कुटिलताको दूर कर देता है, गाढ़े लोभका त्याग कर देता है, रागकी उत्कटताको शिथिल कर देता है, किसीसे विशेष द्वेष नहीं करता है, और महामोहके दोषोंको दूर फेंक देता है। ऐसी अवस्थामें इसका मन प्रसन्न होता है, अन्तरात्मा निर्मल होता है, बुद्धिकी चतुराई बढ़ती है, सोना चादी धन स्त्री आदि पदार्थोंमें परमार्थ बुद्धि नही रहती है, जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंमें आग्रह होता है कि, 'ये ऐसे ही है,' और सम्पूर्ण दोष क्षीण हो जाते है। उस समय यह दूसरोंके गुणोंको जानता है, अपने दोषोंको देखता है, अपनी प्राचीन अवस्थाका स्मरण करता है, गुरुमहाराज जो उस समय इसके हितके लिये प्रयत्न करते हैं, उसे जानता है और इस प्रयत्नके माहात्म्यसे जो अपनी योग्यता हुई है, उसे समझता है। फल यह होता है कि, यह जो मुझ सरीखा जीव पहले अतिशय क्लिष्ट परिणामोंके कारण धर्मगुरु आदिके विषयमें भी नाना प्रकारके बुरे २ विकल्प करनेमें तत्पर रहता था, विवेकको पाकर सोचता है कि "अहो! मेरी पापिष्ठताका, महा मोहान्धताका, अभाग्यताका, कृपणताका, और अविचारताका क्या ठिकाना है, जिससे मैने अतिशय तुच्छ धनके प्रेममें चित्तको उलझाकर जो निरन्तर दूसरोंका उपकार करनेमें लवलीन रहते है, जिनके शरीरका दोषरहित सन्तोषसे ही पोषण होता है, जिनका अन्तःकरण मोक्षसुखरूप अविनाशी धनका उपार्जन करनेमें तत्पर रहता है, जो संसारके विस्तारको तुषोंकी मुट्ठीके समान सर्वथा

सारहीन समझते हैं और अपने शरीरपंजरमें भी जिन्हें कुछ ममत्व नहीं होता है, उन ज्ञानवान् धर्मगुरु आदि साधुओंके विषयमें पहले ऐसे अनेकवार संकल्प विकल्प किये कि, 'क्या ये इन धर्मकथादिकोंका ढोंग फैलाकर ठग लेंगे और मेरा सोना चादी धन आदि सचमुच छीन लेंगे' छि· ! उन मेरे नीचसे नीच बुरे विकल्पोंको धिक्कार है । यदि ये भगवान् मेरा परमोपकार करनेमें तत्पर न होते, तो सुमतिरूप नगरमें पहुंचनेके सुन्दर और निर्दोष मार्गको बतलाते हुए सम्यग्ज्ञानका दान देनेके बहाने मेरी घोर नरकमें ले जानेवाली चित्तवृत्तिको क्यों रोकते ? और विपर्यास भावसे (मिथ्यादर्शनसे) मारी हुई मेरी चित्तवृत्तिको अपनी बुद्धिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त कराके उसके द्वारा सब प्रकारके दोषोंसे मुक्त क्यों करते ? ये अपनी अतिशय निष्पृहतासे मिट्टीके ढेलेको और सुवर्णको बराबर समझनेवाले और पराई भलाई करनेमें इस तरह प्रवृत्त रहनेवाले है जैसे कि इन्हें इसका व्यसन हो गया है, और जिसका उपकार करते है, उससे कभी प्रत्युपकारकी आशा नही रखते हैं। हम सरीखे लोगोंसे ऐसे इन परोपकारी महात्माओंका अपना जीवन देकर भी प्रत्युपकार नही किया जा सकता है, फिर धनधान्यादिकी तो बात ही क्या है ?" इस प्रकारसे जब इस जीवको सम्यग्दर्शन होता है, तब यह पहले किये हुए अपने दुराचारोंके स्मरणसे पश्चात्ताप करता है, सन्मार्गके बतलानेवाले गुरुओंपर जो उलटी शंकाएँ होती थीं, उन्हें छोड़ देता है और उस समय ऊपर कहे अनुसार कहता है।

जीवके ये विकल्प दो प्रकारके होते हैं। जिनमेंसे एक प्रकारके विकार कुशास्त्रोंके सुननेकी वासनासे होते है। जैसे यह त्रिभुवन अंडेसे

उत्पन्न हुआ है, ब्रह्मादि देवोंका बनाया हुआ है, प्रकृतिका बिकार है, क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है, विज्ञान मात्र है, और शून्यरूप है, इत्यादि। ऐसे विकल्पोंको **आभिसांस्कारिक** कहते हैं । और दूसरे प्रकारके विकल्प जिन्हें कि, **सहज** कहते है उन जीवोंके उत्पन्न होते है, जो सुखकी चाह करते हैं, दुःखोंको नहीं चाहते है, धन दौलतमें परमार्थबुद्धि रखते हैं, और इसलिये उनकी रक्षामें तत्पर रहते है, तथा यथार्थ मार्गको नही जानते हैं। इन कुविकल्पोंके कारण यह जीव जिनके विषयमें शंका नहीं करना चाहिये, उनके विषयमें शंका करता है, जो नहीं सोचना चाहिये, वह सोचता है, जो नही कहना चाहिये, वह कहता है और जो नहीं करना चाहिये, वह आचरण करता है। इनमें जो आभिसांस्कारिक विकल्प हैं, वे तो ऐसे है कि, सुगुरुओंके संगमसे कभी २ दूर हो जाते हैं, परन्तु जो सहज विकल्प हैं, वे जबतक इस जीवकी बुद्धि मिथ्यात्वसे युक्त रहती है, तबतक किसी भी तरहसे दूर नहीं हो सकते हैं—उत्कष्ट अधिगमज सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेपर ही इनसे छुटकारा मिलता है।

और जो कहा है कि, "यद्यपि इस अंजन और जल देनेवाले पुरुषमें निष्पुण्यकको विश्वास हो गया, और उसकी महोपकारिताका वह चिन्तवन करने लगा, तो भी उसे जो अपने कुभोजनसे अतिशय प्रेम था, वह उसकी गाढ़ भावनाके कारण जरा भी दूर नहीं हुआ।" सो इस जीवके विषयमें इस तरह योजित करना चाहिये —

यद्यपि ज्ञानावरणीय और दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे तथा सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे जीवकी संसारके प्रपंचोंको ही परमार्थ (वास्तविक) समझनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, जीवादि सप्त तत्त्वोंमें आस्था हो जाती है और परमोपकारी होनेके

कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके दाता ज्ञानवान् धर्मगुरुओंको वह स्वीकार करता है, तो भी जब तक बारह कषाय उदय अवस्थामें रहते है, और जबतक नौ नोकषाय प्रबल रहते है, तबतक यह जीव अनादि संसारके अभ्यासकी वासनाके वशमें रहनेके कारण कुभोजनके समान स्त्रीधनविषयादि सम्बन्धी मूर्च्छाको निवारण नहीं कर सकता है और इससे इसे 'यह संसार एक बड़े भारी अंडेसे उत्पन्न हुआ है,' इत्यादि मूर्खताके विकल्प उठा करते है। और जो इसे धनादि पदार्थोंमें परमार्थबुद्धि होनेके कारण मिथ्यादर्शनके उदयसे सहज कुविकल्प होते है जिनसे कि यह उन धनधान्यादिकी रक्षा करनेके लिये नही शंका करने योग्य गुरु आदिके विषयमें शंका करता है, वे सब मरुदेशकी बालूका मुखचुम्बन करनेके समान तथा जल कल्लोलोंके प्रतिभासके समान हैं। ये विकल्प इनके विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणोंसे बाधित होकर सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके समय नष्ट होते है। परन्तु जो धनविषयादिमें मूर्च्छा लक्षणवाला मोह है, वह कुछ अपूर्व ही है। क्योंकि वह दिशा भूले हुए पुरुषके समान तत्त्वबुद्धिके रहनेपर भी बराबर बना रहता है। इसी मोहसे मोहित होकर यह जीव सबको दाभकी अनीपर अटके हुए चंचल जलबिन्दुके समान जानता हुआ भी नही जानता है, धनका चोरा जाना, स्वजनोंका मरण होना आदि देखता हुआ भी नहीं देखता है, चतुरबुद्धि होकर भी जडबुद्धिके समान चेष्टा करता है और समस्त शास्त्रोंका ज्ञाता होकर भी महामूर्खचूडामणिके समान वर्तता है। इससे इसे स्वतंत्रता भाती है, स्वेच्छाचारिता रुचती है, व्रतनियमादिके कष्टोंसे डर लगता है, अधिक क्या उस समय यह कौएके मांसका भी त्याग नहीं कर सकता है!

आगे कथामें कहा है कि, " उस भिखारीको अतिशय राग भावके कारण अपने बुरे भोजनके ठीकरेपर बारबार दृष्टि डालते हुए देखकर और उससे उसका अभिप्राय समझकर भोजनालयके स्वामी धर्मबोधकरने कुछेक कठोरतासे वा निष्ठुरतासे कहा कि, "अरे दुर्बुद्धि भिखारी ! तू यह कैसा उलटा आचरण कर रहा है? यह कन्या तुझे प्रयत्नपूर्वक खीरका भोजन दे रही है, सो क्या तू नहीं जानता है? मै समझता हूं कि और बहुतसे पापी भिखारी होंगे, परन्तु तेरे समान अभागियोंका शिरोमणि एक भी नही होगा, जो कि अपने तुच्छ भोजनमें मनको लगाये हुए इस अमृतके समान मीठे परमान्नको मै दिलवाता हूं, तो भी नहीं लेता है। जब तूने इस राजमन्दिरमें प्रवेश किया था, तब तुझे इसे देखकर कुछेक आनन्द हुआ था, और उस समय परमेश्वरकी दृष्टि भी तुझपर पड़ गई थी। इसीलिये हम तेरा आदर करते है, नही तो जो जीव इस राजमन्दिरसे बाहिर रहते है, और इस राजभवनको देखकर प्रसन्न नही होते है तथा जिनपर राजराजेश्वर सुस्थितकी दृष्टि नहीं पड़ती है, उनकी हम बात भी नही पूंछते है। हम तो अपने सेवकधर्मकी पालना करनेके लिये जो कोई महाराजका प्यारा होता है, उसीपर प्यार करते है। हमको यह विश्वास है कि, सुस्थितमहाराज अमूढलक्ष्य है—अर्थात् उनकी जांचमें कभी अन्तर नही पड़ता है। वे अपात्र पुरुषकी ओर कभी दृष्टि नही डालते है। परन्तु हमारे इस विश्वासको तू इस समय अपने विपरीत आचरणसे झूठा सिद्ध कर रहा है अर्थात् तू अपात्र जान पड़ता है। सो हे भाई ! अब तू विपरीतताको छोड़ दे, और अपने कुभोजनको फेंककर इस परमान्नको (खीरको) ग्रहण कर कि जिसके प्रभावसे इस राजमहलमें रहनेवाले समस्त

प्राणी अमृतसे संतुष्ट हुए जीवोंके समान आनन्दमग्न हो रहे हैं।"
धर्मगुरु भी इस जीवके विषयमें इसी प्रकार कहते और समझाते हैं।
यथा:—

जब यह जीव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके आविर्भाव होनेपर भी कर्मोंकी परतंत्रताके कारण थोड़ीसी भी विरतिको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् किंचित् भी त्याग नहीं कर सकता है, तब इसे इस प्रकार विषयोंमें गहरी मूर्छाके कारण लवलीन हुआ देखकर धर्माचार्य विचार करते हैं कि, आत्माके साथ इसकी कैसी शत्रुता है? रत्नद्वीपमें पहुंचे हुए अतिशय अभागी पुरुषके समान यह अनमोल रत्नोंके सदृश व्रत नियमादि आचरणोंका तिरस्कार करके उन्हें कुछ भी न समझकर काचके टुकड़ोंके समान विषयोंमें क्यों अपने चित्तको उलझाता है? उस समय गुरु महाराज इस प्रमादमें तत्पर हुए जीवपर प्रणयकोप (स्नेहयुक्त क्रोध) करते हुए कहते हैं;— "हे ज्ञानदर्शनको दोष लगानेवाले! तेरी यह कैसी अनात्मज्ञता है जो हम वारंवार चिल्लाते है—समझाते है, परन्तु तू उसपर ध्यान नही देता है। हमने बहुतसे अकल्याणके भाजनरूप अभागी प्राणी देखे है, परन्तु तू उन सबका शिरोमणि है। क्योंकि तू भगवानके वचनोंको जानता है, जीवादि नव पदार्थोंपर तेरी श्रद्धा है, हम सरीखे उत्साहित करनेवाले तेरे पास है, तू यह जानता है कि, इस प्रकारकी सब सामग्री मिलना अतिशय कठिन है, संसारकी दुरन्तताकी तू भावना भाया करता है, कर्मोंकी दारुणताको अच्छी तरहसे जानता है, और रागादि कैसे भयंकर है यह समझता है; तो भी तू समस्त अनर्थोंकी प्रवृत्ति करनेवाले, थोड़े दिन रहनेवाले, और तुषोंकी (धान्यके छिलकोंकी) मुट्ठीके समान सारहीन विषयोंमें निरन्तर

लवलीन रहता है। तुझे अनर्थोंके गड्ढेमें पड़ते हुए देखकर हम जो समस्त क्लेशोंकी नाश करनेवाली भगवती समस्तपाप-विरतिका (महाव्रतोंका) उपदेश करते है, मो उसकी ओर तू भूल करके भी नही देखता है। और तेरा इसपर भी ध्यान नही है कि, हम तेरा किस लिये इतना अधिक आदर करते हैं। सुन. इसका कारण यह है कि तू सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानयुक्त होनेके कारण सर्वज्ञशासनके भीतर आ गया है और पहिले ही पहिल भगवानका शासन देखकर भी तुझे आनन्द हुआ था। इससे जब हमने देखा कि. परमात्माने तुझपर दृष्टि डाली है, तब समझा कि, परमात्माका तुझपर अनुग्रह है और इस लिये तुझपर हमारा आदरभाव हुआ। क्योंकि भगवान्‌के सेवकोंको भगवान्‌के प्यारेका पक्षपात करना योग्य ही है। और जो अबतक सर्वज्ञशासन मन्दिरके भीतर नही आये है. अथवा किसी तरह आये है परन्तु उसके दर्शनसे प्रसन्न नहीं हुए हैं, उन अनन्त जीवोंको परमात्माकी दृष्टिसे बाह्य समझकर हम देखते हुए भी उदासीनता धारण कर लेते है. क्योंकि वे आदर करनेके योग्य नही है। इस विषयमें (पात्रापात्रकी परीक्षा करनेकी ऊपर कही हुई युक्तिमें) हमारा अभीतक विश्वास था और सन्मार्गमें आने योग्य कौन २ जीव है. इसका हम इसी उपायसे निश्चय करते थे। इसके सिवाय जिन २ जीवोंकी इस उपायसे परीक्षा की गई है, वे कभी विरुद्ध सिद्ध नहीं हुए है। परन्तु तेरे इस विपरीत आचरणसे हमारा अच्छी तरहसे निश्चित किया हुआ भी उपाय व्यभिचारी (झूठ) हुआ जाता है। इससे हे दुर्मते ! ऐसा मत कर। हम जो कहते है. उसे अब भी मान ले। इस दुःशीलताको छोड़ दे, दुर्गतिरूपी नगरीके जानेके मार्ग समान अविरतिको (हिंसादि पापोंको) त्याग दे और

निर्द्वन्द्व आनन्दकी देनेवाली सर्वज्ञकी कही हुई, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानकी फलस्वरूपा विरतिको (त्यागको) धारण कर. नहीं तो परमार्थदृष्टिसे ये ज्ञानदर्शन भी निष्फल हो जावेंगे। क्योंकि चारित्रके विना अकेले दर्शन और ज्ञान मोक्षके साधक नहीं हैं। यह भागवती विरति यदि ग्रहण की जाय और भले प्रकारसे पालन की जाय, तो सारे ही कल्याणोंका सम्पादन कर देती है। और पारलौकिक कल्याणोंको तो रहने दो–उनकी तो बात ही दूसरी है, इस लोकमें ही इन साधुओंको क्या तुम नहीं देखते हो, जो भगवानकी कही हुई विरतिमें (महाव्रतोंमें) लवलीन रहते हैं और उसके कारण अनन्त अमृतरसका पान करने वालेके समान स्वस्थ रहते है। वे निरन्तर मनसे अनुभव करते है (?) उनकी कामवासना नष्ट हो जाती है, इसलिये विषयोंकी अभिलाषासे उत्पन्न होनेवाली उत्सुकता और प्रियविरहकी वेदनाको जानते भी नही हैं, कषायहीनताके कारण लोभसे उत्पन्न होनेवाले धनके कमाने, रखाने और नष्ट हो जानेके दु.खोंसे अनभिज्ञ है, तीनों भुवनके जीव उनकी बन्दना करते है और अपने आत्माको वे संसारके पार पहुंचा हुआ मानते है। अभिप्राय यह कि, वे सब प्रकारसे आनन्दित रहते है। फिर ऐसे २ गुणोंवाली विरतिको आत्मशत्रुताके कारण तू क्यों ग्रहण नहीं करता है?"

आगे कथामें कहा गया है कि, धर्मबोधकरके इस प्रकार वचन सुनकर यद्यपि दरिद्रीको उसपर (धर्मबोधकरपर) विश्वास हुआ और यह निश्चय हो गया कि यह पुरुष मेरा अत्यन्त हितकारी है परन्तु अपने कुभोजनको छुड़ानेके वचन सुनकर वह विह्वल सरीखा हो गया और दीनतासे बोला कि, "हे नाथ! आप जो कहते है, उसे मै सत्य समझता हूं, परन्तु केवल एक बात कहता हूं, उसे

सुन लीजिये। आप जो मेरे इस भोजनको छुड़ाना चाहते हैं, सो यह मुझे प्राणोंसे भी प्यारा लगता है। मैं इसे छोड़कर क्षणभर भी नहीं जी सकता हूं। मैंने बड़े भारी कष्टसे इसे उपार्जन किया है। कालान्तरमें भी मेरा इससे निर्वाह होगा। परन्तु आप जो भोजन मुझे देते है, उसका मै स्वरूप नहीं जानता हूं। मैं सोचता हूं कि, इस एक दिनके मिले हुए भोजनसे मेरा कैसे निर्वाह होगा? इस विषयमें और अधिक कहनेसे क्या? मेरा यह निश्चय है कि, इस भोजनको नही छोड़ूंगा। यदि मेरे इस भोजनके रहते हुए आप अपना भोजन देना उचित समझते है, तो दे दीजिये, नहीं तो मै उसे विना लिये ही यहांसे चला जाऊंगा।" इस कथनकी योजना जीवके विषयमें इस प्रकारसे करना चाहिये—

यह जीव भी कर्मोकी परतंत्रताके कारण चारित्रपरिणामके नहीं होनेसे धर्मगुरुके आगे इसी प्रकार कहता है। इस समय इसे यद्यपि गुरुओंके विषयमें विश्वास हो जाता है और ज्ञानदर्शनके होनेसे भली भाति प्रतीति हो जाती है। परन्तु धनादिमें जो गहरी मूर्छा होती है, वह नष्ट नहीं होती है। जब धर्मगुरु चारित्र ग्रहण कराते हुए उसका (मूर्छाका) त्याग कराते है, तब यह जीव दीन होकर कहता है कि, "हे भगवन्! आप जो कुछ कहते है वह सब सच है, परन्तु आपको मेरी एक प्रार्थना सुन लेना चाहिये। मेरा आत्मा धनविषयादिकोंमें अतिशय गीधा हुआ है, इसलिये मै उन्हें किसी प्रकारसे भी नहीं छोड़ सकता हूं। यह निश्चय समझिये कि मै इन्हें मरनेपर छोड़ सकूंगा। जिन्हें (धनादिकोंको) मैने बड़े भारी क्लेशसे एकत्र किये है, उन्हें एकाएक असमयमें कैसे छोड़ दूं? हम सरीखे प्रमादी आपकी बतलाई हुई विरतिका स्वरूप ही नही

समझ सकते हैं। और ये धनादि पदार्थ तो हम सरीखोंको कालान्तरमें भी प्रसन्न करते हैं, परन्तु आपकी बतलाई हुई विरति तो 'राधावेधके' समान दुष्प्राप्य और कठिन है—कचित् ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिये आपका यह आग्रह हम सरीखोंके लिये तो अयुक्त ही है—हम इसके पात्र नहीं हैं। कहा भी है——

महतापि प्रयत्नेन तत्त्वे शिष्टेपि पण्डितैः।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि प्रयासस्तेषु निष्फलः॥

अर्थात् पंडितोंके द्वारा बड़े भारी प्रयत्नसे समझाये हुए भी तत्व सुनकर जो जीव प्रकृतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ते है—जैसेके तैसे बने रहते है, उनके विषयमें परिश्रम करना निष्फल है।

ऐसी दशामें भी यदि आपका आग्रह हो और अपना चारित्र देना ही हो, तो मेरे जो ये धनविषयादि है इन्हें रहते हुए ही दे दीजिये, अन्यथा जाने दीजिये मुझे आवश्यकता नहीं है।"

जीवके इस प्रकार कहनेपर जैसे उस धर्मबोधकरने भिखारीको खीरका भोजन ग्रहण करनेसे विमुख देखकर विचार किया था कि, "अहो! देखो इस मोहकी सामर्थ्यको जो यह भिखारी अपने सारे रोगोंके करनेवाले बुरे भोजनपर तो लट्टू हो रहा है, और मेरे उत्कृष्ट खीरके भोजनका अनादर करता है। परन्तु मैंने तो पहले ही निश्चय कर लिया है कि, इसमें इस बेचारेका नही किन्तु इसके चित्तको व्याकुल करनेवाले रोगादिकोंका ही दोष है। इसलिये अब इस बेचारेको फिरसे समझाना चाहिये जिससे यह चित्तको ठिकाने लाकर परमान्नको ग्रहण कर लेवे। क्योंकि इसके खानेसे इसका महान् उपकार होगा।" इसी प्रकारसे धर्मगुरु भी सोचते हैं कि,

" अहो ! इस जीवका महामोह एक अपूर्व ही प्रकारका है कि जिसके कारण यह रागादि भाव रोगोंकी बृद्धि करनेवाले और अनन्त दु.खोंके कारणरूप धनादि विषयोंमें बुद्धिको उलझाकर भगवानके वचनोंको जानता हुआ भी अजानके समान, जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करता हुआ भी अश्रद्धानीके समान मेरी उपदेश की हुई विरातिको जो कि सारे क्लेशोंका नाश करनेवाली है, नहीं अंगीकार करता है । परन्तु इसमें इस दीनका दोष नही है—सब कर्मोंकी लीला है । ये कर्म ही इसके शुभ परिणामोंको बिगाड़ देते है । अतएव हमें जो कि इसको प्रतिबोधित करनेके लिये—समझानेके लिये प्रवृत हुए हैं 'यह चारित्र ग्रहण नही करेगा' ऐसा समझकर विरक्त नहीं हो जाना चाहिये—प्रयत्न बराबर करते रहना चाहिये । कहा भी है;—

अनेकशः कृता कुर्याद्देशना जीवयोग्यताम् ।
यथा स्वस्थानमाधत्ते शिलायामपि मृद्घटः ॥ १
यः संसारगतं जन्तुं बोधयज्जिनदेशिते ।
धर्मे हितकरस्तस्मान्नान्यो जगति विद्यते ॥ २

अर्थात् अनेक बार दिया हुआ उपदेश जीवमें योग्यता उत्पन्न कर देता है । जैसे मिट्टीका घड़ा वारंवार रक्खे जानेपर शिलाके ऊपर भी अपने ठहरनेका स्थान बना लेता है । जो संसारी प्राणियोंको जिनप्रणीत धर्मका प्रतिबोध करता है, जगत्में उसके समान हितकारी अन्य कोई नही है । विरति सबसे उत्कृष्ट धर्म है । यदि वह हमारे द्वारा इस जीवको प्राप्त हो जाय—अर्थात् यह चारित्र धारण कर लेवे, तो इस प्रयत्नकी सफलतासे हमें और क्या प्राप्त करना बाकी रहेगा ? हम समझेंगे कि, हमने सब कुछ पा लिया । और भी कहा है.—

महान्तमर्थमाश्रित्य यो विधत्ते परिश्रमम्।
तत्सिद्धौ तस्य तोषः स्यादसिद्धौ वीरचेष्टितम् ॥ ३

अर्थात् जो पुरुष किसी बड़े कार्यके लिये परिश्रम करता है, उसे दोनों ही प्रकारसे लाभ होता है। कार्य सिद्ध हो जानेपर तो उसे संतोष होता है, और सिद्ध नहीं होनेपर उसकी बहादुरी समझी जाती है। इसलिये इसे फिर जैसे बने तैसे सुन्दर मनोहर वचनोंके द्वारा विश्वास दिलाकर समझाऊं।" ऐसा गुरुमहाराजने अपने मनमें निश्चय किया।

आगे रसोईघरके स्वामी धर्मबोधकरने उस भिखारीको फिर भी समझाया, कुभोजनके सारे दोष दिखलाये, युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया कि, वह त्यागने योग्य है, तथा वह जो समझता था कि, आगे भी इससे मेरा निर्वाह होगा, उसको गलत बतलाया, और अपने खीरके भोजनकी प्रशंसा करके कहा कि, 'वह निरन्तर दिया जायगा,' और पहले महाप्रभावशाली अंजन और जलके दानसे जो उसे लाभ हुआ था, उसे प्रगट करके अपनेपर अतिशय विश्वास उत्पन्न कराया। अन्तमें कहा कि "हे भाई! अब अधिक कहनेसे क्या? अपने कुत्सित भोजनको फेंक दे और हमारे इस अमृतके समान परमान्नको ग्रहण कर।"

धर्माचार्य भी इसी प्रकार सब कुछ करते हैं। वे जीवको समझाते हैं कि, धन विषय स्त्री आदि रागद्वेषादिके कारण हैं, बतलाते हैं कि वे कर्म संचय करनेके हेतु है, प्रगट करते है कि दुरन्त (दुःखसे जिसका अन्त हो) और अनन्त संसारके निमित्तभूत है, और कहते हैं कि, "हे भद्र इन धनविषयादिकोंका क्लेशसे उपार्जन होता है, क्लेशसे ही अनुभवन होता है और आगामी कालमें भी

इनका परिपाक क्लेशरूप होता है । अतएव ये सर्वथा छोड़ देनेके योग्य हैं । इसके सिवाय हे भद्र ! तेरा चित्त मोहके कारण विपर्यास भावको प्राप्त हो रहा है, इसलिये तुझे ये धनादि विषय सुन्दर मालूम होते है, परन्तु जब तू चारित्ररसका आस्वादन करेगा, तब हमारे विना कहे ही इन्हें किंचित् भी नही चाहेगा। " **को हि सकर्णकोऽमृतं विहाय विषमभिलषति** " अर्थात् ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो अमृतको छोड़कर विषकी अभिलाषा करेगा ? और हमारे उपदेशसे पाये हुए चारित्र परिणामको जो तू कभी २ प्राप्त होनेके कारण अनिर्वाहक मानता है और धन विषय स्त्री आदिको प्रकृति भावमें रहनेसे तथा सदा होनेसे निर्वाहक मानता है, सो भी मत मान। क्योंकि जो धर्महीन पुरुष है, उनके धनादि भी सदा नही रहते है । और यदि कहीं रहते हों, तो भी बुद्धिमान् पुरुषोंको उनका निर्वाहकपना अंगीकार नही करना चाहिये । क्योंकि अपथ्य अन्नको चाहे वह सदाकाल रहनेवाला हो सारे रोगोंको प्रकुपित करनेवाला होनेके कारण निर्वाहक नही कह सकते है । अतएव सम्पूर्ण अनर्थोंके प्रवर्तक धन विषय स्त्री आदिमें निर्वाहकताका ज्ञान अच्छा नहीं है । और यह जीवका स्वभाव भी नही है । क्योंकि जीव अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य और अनन्तसुखस्वरूप है । जो तत्त्ववेदी अर्थात् यथार्थज्ञानी है, वे समझते है कि जीवका जो इन धनविषयादिकोंमें स्नेह होता है, वह कर्मरूपी मलसे उत्पन्न हुआ एक प्रकारका विभ्रम वा विभाव है—जीवका स्वभाव नहीं है। चारित्रपरिणाम तबतक कादाचित्क अर्थात् कभी २ होनेवाला है, जबतक जीवका वीर्य (पराक्रम) उल्लसित नहीं होता है । परन्तु जब वीर्य प्रगट हो जाता है, तब वह ही निर्वाहक हो सकता

है । इसलिये विद्वानोंको चारित्र प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। इस चारित्रके बलसे ही महात्मागण परीषहों और उपसर्गोंका सहन करते है, धनादिकोंका तिरस्कार करते है, रागादि दोषोंका दलन करते है, कर्मोंको जड़से उखाड़ते है, संसार सागरको तिरते है और निरन्तर आनन्दमय मोक्ष-धाममें अनन्तकाल तक निवास करते है। और हमने जो तुझे ज्ञान दिया है, उससे क्या तेरा अज्ञान अंधकार नष्ट नही हुआ है? तथा जो दर्शनकी प्राप्ति कराई है, उससे क्या तेरे विपर्यास(मिथ्यात्व) रूपी दैत्यका नाश नहीं हुआ है? जिससे अब भी तू हमारे वच-नोंका विश्वास नही करके विकल्प कर रहा है। हे भद्र! अब इन ससारके बढ़ानेवाले धनादि विषयोंको छोड़कर हमारी दयाके दिये हुए इस चारित्रको अंगीकार कर, जिससे तेरे सारे क्लेशोंका नाश हो जाय और शाश्वत मोक्षकी प्राप्ति हो जाय।"

धर्मबोधकरके इस प्रकार बड़े प्रयत्नपूर्वक समझानेपर भी भि-खारीने कहा कि, "मै अपने इस भोजनको नही छोड़ सकता हूं। यदि आप इसके रहते हुए अपना भोजन देना चाहते है, तो दीजिये।" निष्पुण्यक भिखारीके समान यह जीव भी धर्मगुरुओंके वारंवार कहनेपर भी गलि (गरियाल, कायर) बैलके सदृश पैर फैलाकर कहता है कि, "हे भगवन्! मै धन विषयादिको किसी भी प्रकारसे नही छोड़ सकता हूं। इसलिये यदि इनके (धनादिके) रहते हुए ही कोई चारित्र बन सकता हो, तो दीजिये।"

भिखारीका ऐसा आग्रह देखकर धर्मबोधकरने विचार किया, कि, "अब इसको समझानेका और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये यह भले ही अपना कुभोजन अपने पास रक्खे, परन्तु हमको

अपना परमान्न इसे दे देना चाहिये। पीछे जब यह इसके गुण जान लेगा, तब स्वयं अपना कुभोजन फेंक देगा।" ऐसा निश्चय करके उसने वह खीरका भोजन दे दिया और भिखारी उसे खा गया। उसके खानेसे निष्पुण्यककी भूख शान्त हो गई, रोग क्षीण हो गये, और पहले अंजन तथा जलसे जो सुख हुआ था, उससे बहुत अधिक सुख हुआ, मन प्रसन्न हुआ और भोजन देनेवाले पुरुषमें भक्ति हो गई; जिससे वह बोला—"मुझ भाग्यहीनपर भी आपने ऐसी दया की है, इसलिये आप मेरे नाथ है।"

धर्मगुरु भी इसी प्रकारसे जब देखते है कि, यह जीव हठके कारण धनविषयादि नही छोड़ सकता है, तब विचारते है कि, यह सर्वविरति (महाव्रत) नहीं ग्रहण कर सकता है, इसलिये अभी इसे देशविरति (अणुव्रत) ही ग्रहण करा दो। जब यह देशविरतिकी पालना करेगा, तब उससे विशेष गुणोंको पाकर स्वयं ही सर्वसंग (परिग्रह) का त्याग कर देगा। ऐसा विचार कर वे उसे देशविरति (अणुव्रत) ग्रहण करा देते है।

यहा उपदेश देनेके क्रमका निरूपण करते है:—पहले प्रयत्नपूर्वक सर्वविरतिका (महाव्रत) उपदेश देना चाहिये। पश्चात् यदि जीव उसके धारण करनेमें सर्वथा पराङ्मुख हो, अर्थात् सर्वविरति नही धारण करना चाहता हो, तो देशविरतिका निरूपण करना चाहिये वा देना चाहिये। यदि सबसे पहले देशविरतिका उपदेश दिया जावेगा, तो यह जीव उसीमें रक्त हो जायगा और उपदेशक साधुकी सूक्ष्मप्राणातिपातादि पापोंमें अनुमोदन समझी जावेगी। (इसका अभिप्राय यह है कि, मुनिजन पापोंके सर्वथा त्याग करनेका उपदेश देते है, परन्तु जब लोग सर्वथा त्याग नहीं कर

सकते है, तब वे कहते है कि, अच्छा, यदि सर्वथा नहीं हो सकता है. तुम्हारी शक्ति नही है, तो एकदेश करो * । स्त्री मात्रका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते हो, तो पहले परस्त्रीका त्याग करो और स्वस्त्रीका सेवन करो। अब यहां जो स्वस्त्रीके सेवनका उपदेश है, सो विधिरूप नही, किन्तु सर्वथा त्यागके सम्मुख करनेकी सीढ़ीरूप है। परन्तु यदि यही उपदेश सर्वविरतिको पहले बतलाके नहीं किया जावे, पहले स्वस्त्रीके सेवनका ही उपदेश दिया जाय, तो उपदेश देनेवालेको उसकी अनुमोदनाके पापका भागी होना पड़ेगा)

इस प्रकारके देशविरतिके पालनको थोड़ेसे परमान्नभक्षणके समान जानना चाहिये। इस देशविरतिके पालनसे जीवकी विषयोंकी आकांक्षारूप भूख कुछ शान्त होती है, रागादि भावरोग क्षीण हो जाते हैं, ज्ञानदर्शनके प्राप्त होनेसे अर्गलके समान स्वाभाविक

---

* आचार्यवर्य अमृतचन्द्रने इसी विषयमें कहा है,—

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ १७

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्साहमानोऽति दूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १९

भाव यह है कि, वारवार सर्वविरतिका उपदेश देनेपर भी यदि कोई उसे ग्रहण न करे, तो फिर उसे देशविरतिका उपदेश देना चाहिये। जो मूर्ख यतिधर्मका (सर्वविरतिका) उपदेश नहीं देकर गृहस्थधर्मका (देशविरतिका) उपदेश देता है उसे भगवानके शासनमें दंड देनेके योग्य बतलाया है। क्योंकि उसके उस क्रमरहित उपदेशसे बहुत दूरतक उत्साहित हुआ भी शिष्य थोडेहीमें अर्थात् गृहस्थ धर्ममें ही तृप्त हो जाता है। इस तरह वह शिष्य उस मूर्ख उपदेशकसे ठगाया जाता है। [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय]

स्वस्थतारूप प्रशमसुखकी वृद्धि होती है, अच्छी भावनाओंसे मन प्रसन्न होता है और उसके देनेवाले गुरुओंपर इस भावनासे कि "ये मेरे बड़े उपकारी है " भक्ति उत्पन्न होती है। उस समय यह जीव कहता है कि, "हे भगवन्! आप ही मेरे नाथ है। क्योंकि आपने अपनी सामर्थ्यसे मुझे जो कि बुरी सारहीन लड़कीके समान अतिशय अकर्मण्य (निकम्मा) था, कर्मण्यताको प्राप्त करके गुणोंका पात्र बना दिया है।"

आगे धर्मबोधकरने भिखारीको बिठाकर मधुर वचनोंसे उसके चित्तको आल्हादित करते हुए राजराजेश्वरके गुणोंका वर्णन किया, 'हम उनके सेवक हैं' यह प्रगट किया और उसे भी राजाका सेवक-पना स्वीकार करा दिया। फिर उसके हृदयमें राजाके विशेष गु-णोंके जाननेका कुतूहल उत्पन्न किया, उनके जाननेके लिये व्याधि-योंका क्षीण होना कारण बतलाया, व्याधियोंके क्षीण होनेके लिये पूर्वोक्त तीर्थजलादि तीनों औषधियां कारण बतलाई, क्षण क्षणमें उन औषधियोंके सेवन करनेका उपदेश दिया, उनके वारवार सेवन करनेसे राजराजेश्वरकी आराधना होती है और उनकी आरा-धनासे उनके ही समान महाराज्य प्राप्त होता है ऐसा प्रतिपादन किया। धर्मगुरु वा धर्माचार्य्य भी ज्ञानदर्शनसम्पन्न और देशविरति-के धारण करनेवाले जीवको बहुत ही उत्कृष्ट स्थिरता प्राप्त करानेके लिये इसी प्रकारके सब आचरण करते है।

वे जीवसे कहते है कि, " हे भद्र! तू ने जो यह कहा कि, 'तुम ही मेरे नाथ हो,' सो तुझ सरीखेके लिये तो यह युक्त ही है। परन्तु साधारण रीतिसे ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तेरे और हमारे सबहीके परमात्मा सर्वज्ञभगवान् परमनाथ हैं और

तीन लोकके चराचर जीवोंके पालक होनेके कारण वे ही वास्तविक नाथ हो सकते हैं। और जो उनके कहे हुए ज्ञान दर्शन और चारित्रप्रधान मतके अनुयायी है, उनके तो सर्वज्ञभगवान् नाथ है ही। इन्ही भगवानकी सेवकाई अंगीकार करके महात्मागण केवल ज्ञानरूपी राज्यको पाकर सारे संसारको अपना सेवक बना लेते है। जो पापी जीव है, वे बेचारे इन भगवान्का नाम भी नही जानते है। भविष्यमें जिनका कल्याण होनेवाला है, ऐसे भव्य वा भाविभद्र जीव ही स्वकर्मविवरसे (कर्मोके विच्छेद होनेसे) भगवानका दर्शन पाते है। तू इतनी सीढ़ियोंपर आरोहण कर चुका है, इससे तू ने भावसे तो भगवानको पा लिया है परन्तु उनकी प्राप्तिके जो तरतमता लिये हुए असंख्य गुणस्थान है उनपर तूने आरोहण नहीं किया है। सो उनके द्वारा तू भगवानको विशेषतासे प्राप्त कर लेवे, इसके लिये हमारा यह सब प्रयत्न है। क्योंकि भगवानको सामान्यतासे जाननेपर भी संसारी जीव सुगुरुओंकी सम्प्रदायके विना विशेषतासे नहीं जान सकते है।" इस प्रकारसे गुरु महाराज जीवके आगे भगवानके गुणोंका वर्णन करते है, आपको उनके सेवक बतलाते है, जीवको समझाते है कि, तू विशेषतासे भगवान्को ही अपना नाथ समझ, भगवान्के विशेष २ गुण प्रगट करके उसके चित्तमें कौतुक उत्पन्न करते है, उन गुणोंके जाननेके लिये यह उपाय बतलाते है कि, तू रागादि भावरोगोंको कम कर और उक्त रोगोंके कम करनेके लिये ज्ञानदर्शनचारित्ररूप औषधियां बतलाते है तथा उनका क्षणक्षणपर सेवन करनेका उपदेश देते है। यह भी कहते है कि, रत्नत्रयके सेवनसे भगवानकी आराधना होगी और उनकी आराधनासे महाराज्यके समान मोक्षपदकी प्राप्ति होगी।

यद्यपि ग्रहण किये हुए गुणोंमें स्थिरता करनेवाले और परम हितकारी भगवान् धर्माचार्य इस प्रकारका उपदेश देते है– त्याग आदिके विषयमें कुछ भी नही कहते है, तथापि जैसे वह भिखारी रसोईघरके स्वामीके वचन सुनकर अपने अभिप्रायके वशसे इस प्रकार बोला था कि. “ हे नाथ ! अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? मै अपने इस भीखके भोजनको किसी प्रकारसे भी नहीं छोड़ सकता हूं।” उसी प्रकारसे यह जीव भी चारित्रमोहनीय कर्मसे विह्वल होकर इस प्रकार चिन्तवन करता है कि. “ अहो ! ये भगवान् मुझे बड़े भारी आडम्बरसे धर्मका उपदेश देते हैं, सो अवश्य ही ये मुझसे धन स्त्री विषय आदिका त्याग कराना चाहते है । परन्तु मैं धनादिको किसी प्रकारसे छोड़ नहीं सकता हूं । अतएव इनसे समक्षमें ही स्पष्ट कह दूं कि, आप इस विषयमें वारंवार उपदेश देकर अपना कंठ और तालु व्यर्थ ही सुखाते हैं ।” यह सोचकर जीव अपना अभिप्राय गुरुके सम्मुख साफ २ कह देता है।

आगे रसोईघरके स्वामी धर्मबोधकरने इस प्रकार चिन्तवन किया कि, “ मैने तो इस भिखारीसे अपना भोजन त्याग करनेके लिये कहा भी नहीं है । केवल तीनों औषधियोंका सेवन करनेके लिये कहा है । फिर यह विना सम्बन्धकी बात क्यों कहता है ? शायद यह अपने अभिप्रायकी विडम्बनासे यही जानता है कि इनका यह सब वचनाडम्बर मेरे भोजनका त्याग करानेके लिये ही है ।” फिर धर्मबोधकरने मुसकुराके कहा, “ हे भद्र ! आकुलता मत कर, इस समय मैं तुझसे कुछ भी त्याग नही कराता हूं । इस कुभोजनका छोड़ना तेरे लिये ही हितकारी था, इसलिये मै पहले छोड़ देनेके लिये कहता था । परन्तु यदि अब यह तुझे नहीं रुचता है, तो

आगे इस विषयमें मै चुप ही रहूंगा । परन्तु यह तो कह कि मैने जो पीछेसे राजराजेश्वरके गुण आदि वर्णन किये थे और तुझे क्या करना चाहिये, यह समझाया था, सो तूने उसमें थोड़ा बहुत कुछ धारण किया या नही ?—स्मरण रक्खा है या नहीं ? " धर्मगुरू धर्माचार्य भी धर्मबोधकरके समान ऐसी ही सब बातें विचारते है और कहते हैं । यह सब स्पष्ट ही है । अतः पढ़नेवालोंको अपनी बुद्धिसे ही इसकी योजना कर लेनी चाहिये ।

पश्चात् उस निष्पुण्यकने कहा, " हे नाथ ! मैने आपके कहे हुए वचनोंपर कुछ भी ध्यान नही दिया है । मुझे नहीं मालूम है कि आपने क्या कहा था; तौ भी आपके कोमल वचनालापसे मेरे चित्तमें थोड़ासा आनन्द उल्लसित हुआ है ।" इसके पीछे भिखारीने जब कि वह धर्मबोधकरके यह वचन सुनकर कि ' मै तुम्हारे भोजनका त्याग नही कराना चाहता हूं ' भयरहित हो गया था अपने चित्तकी व्याकुलताका कारणभूत सारा वृत्तान्त आदिसे अन्त तक कह सुनाया । और पूछा कि, "ऐसी अवस्थामें अब मुझे क्या करना चाहिये, सो आज्ञा दीजिये । मैं उसे धारण करूंगा ।"

इसी प्रकार श्रीगुरु महाराज भी जीवके चित्तकी दशा जानकर कहते हैं कि " हम तुझसे सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग करनेके लिये जिसे कि तू नही छोड़ सकता है, नहीं कहते हैं । केवल तुझे स्थिर करनेके लिये भगवानके गुणोंका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं और अंगीकार किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके निरन्तर पालन करनेके लिये उपदेश देते हैं । सो तू इसकी कुछ धारणा करता है या नहीं, अर्थात् हमारे उपदेशका तेरे हृदयपर कुछ असर होता है या नहीं ?" तब यह जीव कहता है कि

"हे भगवन् ! सम्यक्प्रकारसे मै कुछ भी नही समझता हूं, मेरे चित्तपर कुछ भी असर नहीं होता है, परन्तु आपके मीठे और सुन्दर वचनोंसे आनन्दित होकर ज्यों ही आप कुछ कथन करते है, त्यों ही शून्यहृदय हूं, तौ भी टकटकी लगाये हुए इस तरहसे सुनता रहता हूं, जैसे सब कुछ समझता होंऊं। भला मेरे जैसे मूर्खके हृदयमें उत्कृष्ट तत्त्वोंका प्रवेश कैसे हो सकता है? क्योंकि जब आप तत्त्वमार्गका व्याख्यान करते है, तब मै बहुत कुछ प्रयत्न करता हूं, तो भी सोते हुएके समान, नशेबाजके समान, पागलके समान, और मूर्छितके समान सर्वथा शून्यहृदय होकर कुछ भी नही समझ सकता हूं। मेरे चित्तकी इस अस्थिरताका जो कारण है, उसे भी सुन लीजिये।" इस प्रकार कहकर जिसके चित्तमें पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ है ऐसा यह जीव गुरुके साम्हने अपने दुश्चरित्रोंकी तथा बुरे बचनोंके कहनेकी निन्दा करता है, पूर्वमें उसे जो २ बुरे विकल्प उठे थे, उन्हें प्रगट करता है, और आदिसे अन्ततक अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन करता है। फिर कहता है कि, "हे भगवन् ! मै जानता हूं कि, आप मेरी भलाई करनेकी इच्छासे विषयादिकोंकी बहुत २ निन्दा करते है, परिग्रह छोड़नेको कहते है, जो परिग्रह त्याग कर देता है, उसके प्रशम सुखकी प्रशंसा करते है, और उस त्यागके कारण जो परमपद अर्थात् मोक्षरूप कार्य सिद्ध होता है, उसकी श्लाघा करते है, तौ भी मै कर्मोंकी परतंत्रताके कारण जो धनविषयादिकोंमें पूर्वके अभ्याससे मूर्च्छा हो रही है, उसे उसी प्रकारसे निवारण नही कर सकता हूं, जिस तरहसे बहुतसे भैसके दही और बैंगनको खानेवाला निद्राको नही रोक सकता है और बहुत तीव्र विषको खानेवाला विह्वलताको नहीं

रोक सकता है। इस कर्मपरतंत्रतासे विह्वल होनेके कारण मुझको आपका धर्मोपदेश उसी प्रकारसे उद्वेगयुक्त करता था—बहुत ही बुरा मालूम होता था, जिस तरहसे महानिद्राके कारण बेसुध हुए पुरुषको जगानेवाले पुरुषके शब्द बुरे मालूम होते है। परन्तु कभी २ बीच २ में आपके उपदेशकी मधुरता, गंभीरता, उदारता (विस्तार) और परिणामकी सुन्दरताका विचार करनेसे आल्हाद भी होता था। जब आपने यह कहा है कि, तू असमर्थ है इसलिये हम तुझसे परिग्रहका त्याग नही कराते है, तब मेरी व्याकुलता और भय नष्ट हुआ है और मै आपके साम्हने यह सब वृतान्त कह सका हूं। अन्यथा जब जब आप उपदेश करते थे, तब तब मेरे चित्तमें अनेक विकल्प उठते थे। उस समय मै ऐसा चिन्तवन करता था कि, ये स्वयं तो निष्पृह है—इन्हें किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है मुझसे केवल धन विषयादि छुड़ाते है। परन्तु जब मै छोड़ नहीं सकता हूं, तब इनका यह परिश्रम व्यर्थ ही है। उस समय यद्यपि मै ऐसा चिन्तवन करता था—तो भी भयकी अधिकतासे अपने जीका अभिप्राय प्रगट नही कर सकता था। जब मेरी ऐसी हीनशक्ति है, तब मुझे क्या करना चाहिये, इस विषयमें आप ही प्रमाण है अर्थात् आप जो कहेंगे मुझे वही मान्य होगा।"

इसके पश्चात रसोईपति धर्मबोधकरने उस भिखारीसे पहले कही हुई सब बातें जिनपर कि उसने चित्तकी अस्थिरताके कारण कुछ भी ध्यान नही दिया था, फिरसे कहीं। और अपनी तीनों औषधियोंका योग्यायोग्य विभाग (अमुक योग्य वा पात्र है, और अमुक अयोग्य वा अपात्र है, योग्यको देनेसे लाभ होगा, अयोग्यको देनेसे कुछ नहीं होगा; इस प्रकारका वि-

चार) जिसका कि राजराजेश्वरने पहले उपदेश किया था, समझाया। उससे यह भी कहा कि, "हे भद्र ! तू कष्टसाध्य (कठिनाईसे अच्छा होने योग्य) रोगी है। इसलिये विना बड़े भारी प्रयत्नके तेरे रोग उपशान्त हो जावेंगे—आराम हो जावेंगे, ऐसा नहीं दिखता है। इसलिये अब तू इस राजमन्दिरमें यत्नपूर्वक ठहर और जो समस्त रोगोंको नाश करने योग्य अतुल पराक्रमको धारण करते है, उन राजराजेश्वरका निरन्तर ध्यान करते हुए तीनों औषधियोंका रातदिन सेवन कर। यह **तद्दया** नामकी दासी तेरी परिचारिका होकर रहेगी !" भिखारीने सब कुछ स्वीकार कर लिया और तदनुसार वह अपने भिक्षाके ठीकरेको किसी एक स्थानमें रखकर उसकी रक्षा करता हुआ कुछ समय तक उस राजमन्दिरमें ही रहा। इन सब बातोंकी योजना जीवके विषयमें इस प्रकारसे करना चाहिये,—

जब यह पहिले कहे अनुसार अपना अभिप्राय गुरुमहाराजसे कह देता है और उनसे पूछता है कि, अब मै क्या करूं, तब वे दया करके पहिली कही हुई सब बातें फिरसे कहते है और तत्पश्चात् उसको ऐसा पक्का बनानेके लिये कि जिससे कालान्तरमें भी वह आचारभ्रष्ट न हो जाय धर्मसामग्रीकी अतिशय दुर्लभता दिखलाते हुए. रागादि भावरोगोंकी अतिशय प्रबलता वर्णन करते हुए और अपनी परतंत्रता प्रगट करते हुए कि हम इस विषयमें स्वतंत्र नहीं हैं आज्ञासे काम करते हैं; कहते है कि—" हे भद्र ! जैसी सामग्री तुझे प्राप्त हुई है, वैसी किसी अभागी वा अधन्य प्राणीको कभी नहीं मिल सकती है। और हम अपात्रके विषयमें कभी परिश्रम भी नहीं करते है। क्योंकि भगवानकी यह आज्ञा है कि, जो जीव

योग्य हों, उन्हीको ज्ञान दर्शन और चारित्र देना चाहिये, अयोग्योंको नहीं। क्योंकि अयोग्यको दिया हुआ रत्नत्रय स्वार्थका साधक नहीं होता है अर्थात् उससे कुछ लाभ नही होता है, बल्कि विपरीत होकर उलटा अनर्थोंका बढ़ानेवाला होता है। कहा भी है,–

धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान् भवेत्।
रौद्रदुःखौघजनको दुःप्रयुक्तादिवौषधात् ॥

अर्थात् धर्माचरणकी वितथतासे अर्थात् विरुद्धरूप पालनासे उसी प्रकार भयानक दु ख होते है, जैसेकी बुरी तरहसे वा अयोग्य रीतिसे प्रयुक्त की हुई औषधिके सेवनसे होते है।

हे भद्र! भगवानका उपदेश उत्तम गुरुओंकी परम्परासे ज्ञात हुआ है और भगवान्के प्रसादसे ही हमने योग्य अयोग्य (पात्र अपात्र) जीवोंके लक्षण जाने है। ये ज्ञान दर्शन और चारित्र ही उन जीवोंके भेद करनेवाले है अर्थात् इन्हीसे जीवोंके योग्य अयोग्य साध्य असाध्य आदि भेद होते है, ऐसा भगवानने कहा है। जिन्हें पहिली ही अवस्थामें (प्रवेश होते ही) ऊपर कहे हुए ज्ञान दर्शन और चारित्रपर प्रीति हो जाती है, और जिन्हें ज्ञान दर्शनादिके सेवन करनेवाले अपने ही जैसे जान पड़ते हैं तथा जो ज्ञानादिको सुखसे ही–सहज ही ग्रहण कर लेते है और जिनपर सेवन किये हुए ज्ञानदर्शनादि तत्काल ही अपनी विशेषता दिखलाते हैं–असर करते है, वे लघुकर्मी तथा आसन्नमोक्ष है, अर्थात् समझना चाहिये कि, उन्हें शीघ्र ही मोक्ष हो जायगा और जैसे अच्छी लकड़ी चित्र उकीरनेके योग्य होती है, उसी प्रकारसे उन्हें तीनों औषधियोंके योग्य समझना चाहिये। ऐसे जीव भावरोगोंका नाश करनेके लिये सुसाध्य हैं।"

जिन जीवोंको ये रत्नत्रयरूप औषधियां शुरूमें ही अच्छी नहीं लगती है, इनके सेवन करनेवाले दूसरे जीवोंका जो तिरस्कार करते है. सद्गुरुओंके बड़े भारी प्रयत्नसे जो बोधको प्राप्त होते है—वा सुलटते है, ज्ञानदर्शनादिका सेवन करनेसे जिनपर बहुत समयके बीतनेपर असर होता है और दृढ़ निश्चय नही होनेके कारण जो अपने रत्नत्रयमें वारंवार अतीचार दोष लगाते है, वे गुरुकर्मी, तथा व्यवहितमोक्ष है, अर्थात् उन्हें शीघ्र मोक्ष नहीं मिलता है। जैसे मध्यम प्रकारकी लकड़ी अच्छे कारीगरके प्रयत्नसे चित्र उकीरनेके योग्य होती है, उसी प्रकारसे ये अच्छे गुरुके प्रयत्नसे योग्यताको प्राप्त होते है। भाव रोगोंको नष्ट करनेके लिये इन्हें **कष्टसाध्य** समझना चाहिये। इनके रागद्वेषादि भावरोग बड़ी कठिनाईसे नष्ट होते है।

जिन जीवोंको ये सम्यग्दर्शनादि बिलकुल अच्छे नही लगते है, हजारों उपायोंसे योग मिला देनेपर भी जो इन्हें धारण नही करते है और उपदेश देनेवालोंके साथ भी जो बैर करते है, वे महापापी, अभव्य और सर्वथा ही रत्नत्रयरूप औषधिके अयोग्य होते है। भावरोगोंको नाश करनेके लिये उन्हें **असाध्य** समझना चाहिये।

हे सौम्य! भगवान्के चरणोंके प्रसादसे हम जो लक्षण समझे है उनसे, तथा जैसा तू अपना स्वरूप कहता है उससे, और हमारे ध्यानमें तेरा जो स्वरूप आया है उससे, जान पड़ता है कि तू **कष्टसाध्य** जीवोंकी श्रेणीमें है। ऐसी दशामें जबतक खूब ही प्रयत्न न किया जाय, तबतक तेरे रागादि दोषोंका उपशम नही हो सकता है। अतएव हे वत्स! यदि अब भी तुझमें सर्व परिग्रहके त्याग करनेकी शक्ति नहीं है, तो भगवान्के इस विस्तृत शासनमें भावपूर्वक स्थिर रहके सारी आशाओंको छोड़के और हृदयमें गाढ़ी भ-

क्तिसे उन भगवानको निरन्तर स्थापित करके जो कि अचिन्तनीय पराक्रमके कारण सारे दोषोंका शोषण कर सकते हैं देशविरतिको (श्रावकधर्मको) ही धारण कर और सदा ही ज्ञान दर्शन और चारित्रको जो कि उत्तरोत्तर क्रमसे विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्ट तम है, यत्नपूर्वक सेवन कर । ऐसा करनेसे तेरे रागादि रोगोंका उपशम हो जायगा—अन्य प्रकारसे नहीं ।"

इस प्रकारका उपदेश देनेमें तत्पर रहनेवाली जो ज्ञानवान् धर्म-गुरुओंकी इस जीवपर दया है, वास्तवमें उसीको इसका पालन करनेवाली—परिचारिका दया समझना चाहिये ।

इसके पश्चात् यह जीव गुरुमहाराजके वचनोंको मानता है, मै यावज्जीव ऐसा ही करूंगा इस प्रकार निश्चय करता है, देश-विरतोंकी पालन करता हुआ कुछ समयतक उक्त शासनमन्दि-रमें रहता है और उस समय भिक्षाके आश्रयभूत ठीकरेके समान अपने विषय कुटुम्बादिकके आधारभूत जीवितव्यकी (जीवनकी) रक्षा करता है । इस तरह जीवके वहां रहते समय आगे जो वृतान्त हुआ उसे कहते हैं;—

कथानकमें कहा है कि, " वह तद्दया नामकी परिचारिका नि-ष्पुण्यकको वे तीनों औषधिया रात दिन देती है, परन्तु उसे तो केवल वह कुभोजन ही अच्छा लगता है। उसीमें उसकी मूर्च्छा है इसलिये उन औषधिरूप पदार्थोंका वह कुछ भी आदर नहीं करता है ।" सो इस जीवके विषयमें ऐसा ही समझना चाहिये । क्योंकि यद्यपि गुरु महाराजकी दया इसे निरन्तर ही ज्ञानदर्शनादि प्रदान करती है, परन्तु कर्मोंकी परतंत्रतासे धनादि विषयोंमें मोहित रहकर यह उन्हें बहुत नही मानता है अर्थात् ज्ञान दर्शनादिमें इसकी आदरबुद्धि नहीं रहती है ।

और कथामें कहा है कि, "वह निष्पुण्यक मोहके वशीभूत होकर अपने ठीकरेके भोजनको तो बहुत खाता है। परन्तु तद्दयाके दिये हुए परमान्नको (खीरको) उपदंशके[1] समान थोड़ा २ चखता है।" उसी प्रकारसे यह जीव भी महा मोहसे ग्रसित होकर धन-कमानेकी और विषय भोगादिकोंकी बहुत चाहना करता है, परन्तु गुरुकी दयासे पाये हुए व्रत नियमादिकोंकी कभी २ बीच २ में अनादरके साथ पालना करता है अथवा करता ही नहीं है। और जैसे वह भिखारी तद्दयाकी प्रेरणासे उस अंजनको कभी २ आंखोंमें आंजता है, उसी प्रकारसे यह जीव भी सद्गुरुओंकी दयासे प्रेरित होकर उनके अनुरोधसे ही चलता है और ज्ञानका अभ्यास करता है—सो भी कभी २, सर्वदा नही। जैसे वह निष्पुण्यक तीर्थजलको पीनेके लिये धर्मबोधकरके कहनेसे ही प्रवृत्त होता है, उसी प्रकारसे यह जीव भी प्रमादके वशावर्ती होकर दयालु गुरुओंकी प्रेरणासे ही सम्यग्दर्शनको उत्तरोत्तर विशेषोंसे प्रकाशित करता है, अपने उत्साहसे नहीं।

आगे कहा है कि, "तद्दया जो बहुतसा परमान्न देती थी, उसमेंसे वह भिखारी शीघ्रतासे थोड़ासा तो खा लेता था और बाकीको अनादरसे अपने भीखके ठीकरेमें पड़ा रहने देता था। और उसके सम्बन्धसे वह भोजन इतना बढ़ता जाता था कि भिखारीके रातदिन खानेपर भी समाप्त नहीं होता था। इससे उसे संतोष होता था, प्रसन्नता होती थी, परन्तु वह यह नहीं जानता था कि, किसके माहात्म्यसे इसकी वृद्धि होती जाती है। केवल उसमें अतिशय लवलीन रहकर उन तीनों औषधियोंके सेवनमें

---

[1] शराब पीनेके पश्चात् जो चाट खाई जाती है, उसे उपदश कहते है।

शिथिल होकर काल व्यतीत करता था। और इसलिये उस अपथ्य-भोजीके रोग जड़से नष्ट नही होते थे। केवल बीच २ में तद्दया-की प्रेरणासे जो वह परमान्नादिका थोड़ा बहुत सेवन कर लेता था, उसीसे वे रोग कुछ जीर्णअवस्थाको प्राप्त हो जाते थे—हलके पड़ जाते थे। परन्तु जब कभी आपेको भूल कर वह अपथ्यका अतिशय सेवन कर डालता था, तब वे रोग अपने विकारोंको प्रगट करते हुए शुल दाह मूर्च्छा अरुचि उत्पन्न करके उसे पीड़ित करते थे।"

यहां जीवके विषयमें भी उपर्युक्त सारा कथन ठीक २ घटित होता है। चातुर्मासादिके (चौमासेके) किसी अवसरपर दयालु गुरु महाराज इस जीवके आगे अतिशय उत्कृष्ट व्रतोंके धारण करनेके लिये अणुव्रतोंकी विधिका सविस्तर वर्णन करते है। परन्तु उस समय तीव्र चारित्रमोहिनीय कर्मके कारण जिसका पराक्रम मन्द हो गया है, ऐसा यह जीव वैराग्यकी तीव्रतासे कोई २ व्रत ग्रहण करता है। सो यह सब बहुत सी दी हुई खीरमें से थोडीसी भक्षण करनेके समान समझना चाहिये। और फिर कई एक व्रतोंको दयालु गुरुमहाराजके अनुरोधसे चित्तमे न चाहनेपर भी ले लेता है, सो इसे बचे हुए परमान्नको अपने ठीकरेके भोजनमें डाल लेनेके समान समझना चाहिये। मन्द वैराग्यसे अंगीकार किये हुए भी व्रत अपने सम्बन्धसे इस भव और परभवमें विषय धनादिकोंको बढ़ाते है, सो यह परमान्नके सम्बन्धसे ठीकरेके भोजनके बढ़नेके तुल्य है। वे धन विषयादि पदार्थ जो कि उन व्रत नियमादिकोंके प्रभावसे प्राप्त होते है, जब निरन्तर भोगे जानेपर भी कभी निःशेष नहीं होते हैं। (क्योंकि उनके उत्पन्न होनेके व्रतनियमादि दृढ़ कारण हैं) तब

यह देव और मनुष्यभवमें उत्पन्न हुआ जीव अपनी इस धन विषयादिकी विभूतिको पाकर हर्षित होता है। बेचारा यह नहीं सोचता है कि, यह धन विषयादिकी विभूति मुझे धर्मके महात्म्यसे प्राप्त हुई है, तब इसमें हर्षित होनेकी क्या बात है? मुझे तो इसके कारणभूत प्रभावशाली धर्मका ही सेवन करना चाहिये। इस प्रकार यह वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाला और इसलिये धनविषयादिमें मनको उलझानेवाला जीव ज्ञान दर्शन और चारित्रको शिथिल करता है। और जानता हुआ भी मोहके कारण नहीं जाननेवालेके समान व्यर्थ ही समयको खोता है। इस प्रकार धनादि पदार्थोंमें उलझे हुए और धर्म क्रियाओंमें मन्द रुचिवाले जीवके रागादि भावरोग बहुत काल बीत जानेपर भी नष्ट नहीं होते है। केवल गुरुमहाराजकी प्रेरणासे मन्द वैराग्यसे भी जो उत्तम आचरण (व्रतपालन) करता है, उससे इतना गुण होता है अर्थात् उसके भावरोग कुछ क्षीण हो जाते है।

यह जीव अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान न होनेसे विषयधनादिमें बहुत ही गीधता है, जिससे कि बहुत २ परिग्रह संग्रह करता है, बड़ी २ उलझनोंका व्यापार प्रारंभ करता है, खेती आदि करता है, और इनके समान और भी अनेक आरंभ करता है। तब वे रागादि भावरोग अपने प्रबल सहकारी कारणोंके मिलनेसे नाना प्रकारके विकार प्रगट करते है। उस समय अनादरपूर्वक किये हुए आचरण रक्षक नहीं होते है। उन विकारोंसे यह कभी एकाएक शूल उठनेके समान धन खर्च करनेकी चिन्तासे पीड़ित होता है, कभी दूसरोंकी ईर्षारूप दाहसे जलता है, कभी अपना सारा धन हरा जानेसे मुमूर्षुके समान मूर्च्छाका अनुभव करता है, कभी कामज्वरके

संतापसे तड़फड़ाता है, कभी लेनेवाले साहूकारोंके द्वारा बलपूर्वक छीने गये धनकी यातनासे वमन करनेवाले पुरुषके समान चेष्टा करता है, कभी " जानते हुए भी देखो यह ऐसी प्रवृति करता है" इस प्रकारकी लोकनिन्दासे जड़ताके (शीतरोगके) समान मूर्ख कहलानेका कष्ट भोगता है, कभी हृदय और पसलीकी वेदनाके समान इष्टवियोग और अनिष्ट संयोगकी पीड़ासे 'हाय' 'हाय' करता है, कभी उस प्रमादीको मिथ्यात्वरूपी उन्मादका सन्ताप फिर भी हो जाता है। और कभी उत्तम अनुष्ठानरूपी पथ्यभोजन-पर उसे अतिशय अरुचि हो जाती है। इस तरह यह अपथ्य-सेवनमें आसक्त रहनेवाला जीव उक्त देशविरतिकी कोटिपर आ-रूढ हो जानेपर भी ऐसे २ विकारभावोंसे व्यथित रहता है।

आगे कहा है कि, " तद्दयाने भिखारीको अनेक विकारोंमे अधमुआ देखकर जान लिया कि, अपथ्य भोजनकी आसक्तिके कारण इसकी यह दशा हुई है। परन्तु इसको आकुलता हो जायगी, इस ख्यालसे कुछ कहा नहीं। भिखारीने ही स्वय कहा कि, मुझे इतनी अधिक लालसा है कि, उसके कारण मै अपने आप इस भोजनको नही छोड़ सकता हूं। इसलिये अबसे मुझे आप ही इस अपथ्यसेवनसे निरन्तर रोक दिया करें। तद्दयाने यह बात मान ली अर्थात् वह उसे अपथ्यभोजन करनेसे रोकने लगी और इस कारण उसकी दशामें थोड़ासा अन्तर पड़ गया अर्थात् उसके रोग कुछ शान्तसे हो गये। परन्तु जब तद्दया समीप रहती थी, तब ही वह भिखारी अपथ्यको छोड़ता था, उसके नहीं रहनेपर नही। और तद्दया अनेक जीवोंको जगानेके कार्यमें आकुलित रहती थी, उसे जगह २ दूसरे जीवोंको प्रतिबोधित करनेके लिये जाना पड़ता था,

इस लिये वह इसहीके पास सदा रह नहीं सकती थी। इससे उसकी अनुपस्थितिमें भिखारी भी स्वच्छन्दतासे अपथ्यसेवन करता था और फिर विकारोंसे पीड़ित होता था।" इस जीवके सम्बन्धमें भी ये सब बातें घटित होती हैं।

गुरुमहाराजकी जो जीवविषयक दया है, वह बहुत ही प्रधान कार्यकी करनेवाली है, इस लिये उसे पृथकरूपमें कर्त्री कहा है। अभिप्राय यह है कि, यद्यपि इस प्रकरणमें कर्त्ता गुरुमहाराज है, उनकी दया उनसे कोई पृथक् व्यक्ति नहीं है, तौ भी सर्वत्र गुरुमहाराजकी दयाकी ही प्रधानता रक्खी गई है, इस लिये उसकी एक पृथक् पात्रके रूपमें कल्पना कर ली है।

वे गुरुमहाराज जिनका कि चित्त दयासे व्याप्त रहता है, जब इस प्रमादी जीवको अनेक प्रकारकी पीड़ाओंकी व्याकुलतासे रोता हुआ देखते है, तब इस प्रकार उलाहता देते है कि, "हे भद्र! हमने तो तुझसे पहिले ही कह दिया है कि, जिनका चित्त विषयवासनाओंमें आसक्त रहता है उन्हें मानासिक संतापोंकी कमी नहीं रहती है और जो धनके कमाने और रखवाली करनेमें तत्पर रहते हैं, नाना प्रकारकी विपत्तियां उनसे कुछ दूर नहीं रहती हैं—वे हमेशा सिरपर खड़ी रहती है। परन्तु तेरी तो इन ही विषयोंमें बहुत गहरी प्रीति है—तू इनहीमें मग्न रहता है और इस ज्ञान दर्शन चारित्ररूप रत्नत्रयको जो कि सम्पूर्ण क्लेशरूप महा अजीर्णका नाश करनेवाला और उत्कृष्ट स्वास्थ्यका करनेवाला है, तू अनादर दृष्टिसे देखता है, तब बतला कि, हम क्या करें? यदि तुझसे कुछ कहते हैं, तो तू दुखी होता है। इसलिये सब वृतान्तको जानते हुए और तुझे अनेक उपद्रवोंसे घिरा देखते हुए भी हम चुप है। इसके सिवाय

तुझे कुमार्गपर जाते हुए देखकर भी हम इस भयसे नहीं रोकते हैं कि, कहीं इसे आकुलता न हो जाय। यदि रत्नत्रयकी ओर आदर-दृष्टिसे देखनेवाले, विरुद्ध कामोंको छोड़नेवाले और ज्ञान दर्शन तथा देशचारित्रमें स्थिर रहनेवाले पुरुषोंके विकारोंका हमसे निवारण हो गया, तो बस है, आदररहित पुरुषोंके विकार निवारण करनेसे हम बाज आये। जब हमारे देखते हुए भी तू रागादि रोगोंसे दुखी रहता है, तब लोग हमें भी उपालंभ देंगे—हमारी भी निन्दा करेंगे कि, ये इसके गुरु हैं।" इसे तद्दयाने उस भिखारीको जो उलहना दिया था, उसके समान समझना चाहिये।

पश्चात् यह जीव गुरुमहाराजसे कहता है कि, "भगवन्! अनादि कालसे मुझे इनका अभ्यास हो रहा है, इसलिये ये तृष्णा, लोलुपता आदिके भाव मुझे मूर्च्छित रखते है। इनके वशवर्ती होनेसे आरंभ परिग्रहके बुरे विपाकको अर्थात् कडुए फलको मै अच्छी तरहसे जानता हूं, तो भी उसे नहीं छोड़ सकता हूं। इसलिये आपको मुझसे उपेक्षा नही करनी चाहिये। किन्तु मुझे बुरी प्रवृत्ति करते देखकर रोकना चाहिये। शायद आपके माहात्म्यसे ही थोड़े थोड़े दोषोंको त्याग करते २ मेरी ऐसी कोई परणति हो जाय कि, उससे मैं कभी सारे दोषोंका त्याग (महाव्रतधारण) करनेमें भी समर्थ हो जाऊं।"

गुरुमहाराज उसकी यह बात मान लेते है और यदि वह कभी प्रमाद करता है अर्थात् अपनी प्रवृतिमें कुछ दोष लगाता है, तो वे रोक देते है। उनके वचन माननेसे पहिलेकी प्रवृतिपीड़ा शान्त हो जाती है और उनके प्रसादसे ज्ञानादि गुण बढ़ने लगते हैं। जीवकी इस दशाको तद्दयाके वचनानुसार चलनेसे उस भिखारीको

जो थोड़ासा आरोग्य हो गया था, उसके समान समझना चाहिये। आगे यह जीव उत्कृष्ट ज्ञानके न होनेसे अपना हित करनेकी चेष्टा तब ही करता है, जब गुरुमहाराज प्रेरणा करते है। जब उनकी प्रेरणा नही होती है, तब यह सत्कर्तव्य करनेमें शिथिल हो जाता है, और आरंभ परिग्रह करनेमें वारंवार अतिशय प्रवृत्ति करने लगता है। उस समय रागादि भावोंका उल्लास वा बढ़ाव होता है और नाना प्रकारकी मानसिक तथा शारीरिक बाधाएँ उत्पन्न होती है। उसकी इस अवस्थाको भिखारीकी विह्वलता समझनी चाहिये। भगवान् गुरुमहाराजके लिये जिस तरह यह जीव अच्छी प्रेरणाके द्वारा पालन करने योग्य वा सुमार्गपर चलाने योग्य है, उसी प्रकारसे और बहुतसे जीव भी है। इसालिये समस्त जीवोंपर अनुग्रह करनेमें तत्पर रहनेवाले वे गुरुमहाराज इस जीवको कभी २ ही प्रेरणा कर सकते हैं, शेष समयमें यह स्वतंत्र वा स्वच्छन्द रहता है, इसलिये उस समय यह अपना चाहे जो अहित करता है कोई रोकनेवाला नही रहता है। इससे उसे पहिले कहे हुए विकार हो जाते है। जीवकी इस अवस्थाको तद्दयाके पास न रहनेके कारण भिखारीके अपथ्य सेवन कर लेनेके और उसके रोगोंके फिर उभड़ आनेके समान समझना चाहिये।

इसके पश्चात् भिखारीने धर्मबोधकरसे अपना सारा वृत्तान्त निवेदन करके कहा कि, "हे नाथ! कोई ऐसा यत्न कीजिये, जिससे मुझे स्वप्नमें भी कभी पीड़ा न हो।" रसोईपतिने कहा कि, "यह तद्दया व्यग्रताके कारण अर्थात् दूसरोंके उपकारमें भी उलझी रहनेके कारण तुझे अपथ्यसेवन करनेसे अच्छी तरह नहीं रोक सकती है। इसलिये तेरे लिये एक दूसरी व्यग्रतारहित परिचारिका किये

देता हूं। परन्तु तुझे जो वह कहेगी, वही करना पड़ेगा।" भिखारीने जब यह बात स्वीकार की, तब धर्मबोधकरने उसे एक सद्बुद्धि नामकी असाधारण परिचारिका वा दासी सौंप दी। इससे उसकी जो अपथ्यसेवनमें लंपटता रहती थी, वह नष्ट हो गई, रोग हलके हो गये और उनके विकार प्रायः मिट गये। उसके शरीरमें कुछ सुखकी झलक आई और आनन्दकी वृद्धि हुई। यह विषय जीवके सम्बन्धमें भी समानरूपसे घटित होता है। यथा;—

जैसे अन्धा पुरुष दौड़ते समय भीत स्तम्भ आदिसे ठोकर खाकर वेदनासे विहल हो जाता है और फिर किसी दूसरे पुरुषको अपनी चोटका कष्ट बतलाता है, उसी प्रकारसे यह जीव भी गुरु जिन्हें रोक देते है, उन आचरणोंको करके जब कष्ट पाता है, तब गुरुमहाराजका उसके हृदयमें विश्वास जम जाता है और वह अपने अनेक प्रकारके कष्ट उन्हें सुनाता है। हे भगवन्! जब मै आपके रोक देनेसे चोरीका धन नही लेता हूं, विरुद्धराज्यातिक्रम नही करता हूं, वेश्याआदि दुराचारिणी स्त्रियोंके यहां नहीं जाता हूं और भी जो अनेक प्रकारके धर्मविरुद्ध तथा लोकविरुद्ध कार्य है, उन्हें नही करता हूं और महान् आरंभ और परिग्रहमें रंजायमान नही होता हूं, तब लोग मुझे साधु (भला मनुष्य) कहकर सत्कार करते है, विश्वास करते हैं, और मेरी प्रशंसा करते है। उस समय शरीरके परिश्रमसे जो दुःख होता है वह मुझे जान ही नहीं पड़ता है, चित्त स्वस्थ होता है और इस विचारसे बहुत आनन्द होता है कि धर्म इस प्रकारका आचरण करनेवाले प्राणियोंको अच्छी गतिमें पहुंचा देता है। परन्तु जब आप मुझे रोकते नही हैं अथवा रोकते हैं, तो मै उसकी परवाह न करके धन विषयादिमें अतिशय आसक्ति

होनेके कारण 'गुरुमहाराज इसे थोड़े ही जानेंगे' इस अभिप्रायसे चोरीसे लाये हुए पदार्थ ले लेता हूं, विषयकी लोलुपतासे वेश्यादि स्त्रियोंके साथ सहवास करता हूं, तथा आपके रोके हुए और भी अनेक आचरण करता हूं, तब लोग निन्दा करने लगते हैं, राजकुलके लोग सारा धन जब्त कर लेते है, शरीरको कष्ट होता है, मानसिक दुःख होते हैं, इसके सिवाय और भी समस्त अनर्थ इस लोकमें ही प्राप्त हो जाते है, तथा पाप ऐसा आचरण करनेवाले पुरुषोंको दुर्गतिरूपी गढेमें पटक देता है, इस चिन्तासे हृदय जलने लगता है और क्षणभरको भी मुझे सुख नहीं मिलता है। इसलिये हे नाथ! अब आप ऐसा यत्न कर दीजिये, जिससे मै आपके वचनोंके अनुसार आचरण करनेरूप कवचको निरन्तर पहिने रहकर इन अनर्थरूपी वाणोंसे बचा रहूं।

यह सुनकर गुरुमहाराजने कहा कि, "हे भद्र! यद्यपि दूसरोंके रोकनेसे बुरे कार्य बहुत ही कम रुकते है, तो भी रोकनेसे और नहीं रोकनेसे क्या विशेषता होती है—क्या हानि लाभ होता है यह तू अच्छी तरहसे देख चुका है। हम अनेक प्राणियोंका उपकार करनेमें लगे रहते है—व्यग्र रहते हैं, इसलिये तुझे सदा पास रहकर नहीं रोक सकते है। ऐसी दशामें जब तक तेरे हृदयमें स्वयं सद्बुद्धि नहीं होगी, तब तक इन हमारे निषेध किये हुए आचरणोंसे जो अनर्थपर अनर्थ होते है, हुआ ही करेंगे—रुकेंगे नहीं। क्योंकि **सद्बुद्धिरेवपरप्रत्ययमनपेक्ष्य स्वप्रत्ययेनैव जीवमकार्याभिवारयति।** अर्थात् सद्बुद्धि ही एक ऐसी है, जो दूसरोंके सहारेकी अपेक्षाके विना अपनी ही सहायतासे जीवको बुरा कार्य करनेसे रोक सकती है और तब ही जीव अनर्थोंसे बच सकता है।"

यह सुनकर जीवने कहा—"किन्तु हे नाथ! वह सद्बुद्धि भी तो मुझे आपके ही प्रसादके मिलेगी। आपके प्रसादके सिवाय उसके पानेका और कोई उपाय नहीं है।" तब गुरुमहाराज बोले, "अच्छा तो हे भद्र! हम तुझे सद्बुद्धि देते है। परन्तु वह हम सरीखे पुरुषोंके ही वचनाधीन रहती है। हम उसे दूसरोंको दे भी देवें, तो भी वह केवल उन्हीं जीवोंपर अपना अच्छा असर करती है, जो पुण्यवान् है। दूसरे पुण्यहीनोंपर उसका अच्छा परिणाम नहीं होता है। क्योंकि पुण्यवान् जीव ही उसका आदर करते हैं, अपुण्यवान् नहीं। शरीरधारियोंको जितने कष्ट होते हैं–जितने अनर्थ होते है, वे सब उस सद्बुद्धिके नहीं होनेसे ही होते है। और संसारमें जितने कल्याण है–जितने सुख हैं, वे सब सद्बुद्धिके ही अधिकारमें है। जो महात्मा सद्बुद्धिके प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते है, वे ही वास्तवमें सर्वज्ञ भगवान्की आराधना करते है, दूसरे नहीं। हम सरीखोंका यह सब वचनप्रपंच भी तुम निश्चय समझ लो कि, उस सद्बुद्धिके प्राप्त करनेके लिये ही है। जो पुरुष सद्बुद्धिरहित हैं, उन्हें व्यवहारसे ज्ञानादि भले ही प्राप्त हो जावें, परन्तु वे ज्ञानहीन पुरुषोंसे किसी प्रकार अच्छे नहीं कहला सकते। क्योंकि अज्ञानियोंके समान वे भी स्वकार्य अर्थात् आत्मकल्याण नहीं कर सकते है। अधिक कहनेसे क्या, जो पुरुष सद्बुद्धिरहित हैं, उनमें और पशुओंमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इसलिये यदि तू सुख चाहता है और दुःखोंसे डरता है, तो हम जो तुझको सद्बुद्धि देते है, उसको प्रयत्नपूर्वक रख–उसका आदर कर। सद्बुद्धिका आदर करनेसे समझा जावेगा कि, तूने हमारे वचनोंकी पालना की, तीन भुवनके स्वामी सर्वज्ञभगवानको अच्छी तरहसे माना, हमको संतुष्ट

किया, मोक्षको पहुंचानेवाले विमानपर आरोहण किया, लोकसंज्ञाका (लौकिक नाम अथवा बुद्धिका) त्याग किया, धर्मका आचरण किया, और अपने आत्माको भवसमुद्रसे तिरा कर पार कर दिया।" गुरुमहाराजके इस प्रकारके वचनरूपी अमृतके प्रवाहसे जीवका हृदय आल्हादित हो जाता है, और वह गुरुके वचनोंको मान लेता है। पश्चात् गुरुमहाराज उसे उपदेश देते हैं कि, "हे सौम्य! तुझसे एक अतिशय गुह्य[1] बात कहते हैं, उसे तुझे अच्छी तरहसे धारण करना चाहिये—हृदयपटलपर लिख रखना चाहिये कि जब तक यह जीव विपरीत ज्ञानके वशसे दुःखरूप धनविषयादिकोंमें सुख मानता है, और सुखरूप वैराग्य तप संयमादिमें दुःख मानता है, तब तक ही इसका दुःखसे सम्बन्ध है; परन्तु जब इसे विदित हो जाता है कि, विषयोंमें प्रवृत्ति करना—विषयोंको भोगना ही दुःख है और धन विषयादिकी अभिलाषासे निवृत्त होना ही सुख है, तब यह सम्पूर्ण आशाओंका नाश हो जानेसे और निराकुल हो जानेके कारण स्वाभाविक सुखोंके प्रगट हो जानेसे निरन्तर आनन्दरूप हो जाता है। और भी तुझे एक परमार्थकी बात सुनाता हूं-जैसे जैसे यह पुरुष निस्पृह अर्थात् अभिलाषारहित होता है, तैसे तैसे पात्रता आनेके कारण इसे सारी सम्पदाएँ प्राप्त होती है और जैसे जैसे यह सम्पदाओंका अभिलाषी होता है, तैसे २ वे सम्पदाएँ मानो इसको अपात्र वा अयोग्य समझकर इससे बहुत दूर भागती है। इसलिये तुझे इस बातको अच्छी तरहसे निश्चय करके किसी भी सांसारिक पदार्थके पानेकी वा भोगनेकी अभिलाषा नही रखना चाहिये। यदि तू इस बातको मान लेगा, तो तुझे कभी किसी शारीरिक और

---

१ छुपाने योग्य लाभकी बात।

मानसिक पीड़ाकी गन्ध तक नहीं आवेगी।" गुरुमहाराजका यह उपदेश जीवने अमृतके समान ग्रहण किया। पश्चात् 'इसे सद्बुद्धि हो गई है, इसलिये अब यह कभी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करेगा' ऐसा समझकर गुरुमहाराज इसकी ओरसे निश्चिन्त हो गये।

सद्बुद्धिके प्राप्त हो जानेपर यह श्रावकअवस्थामें वर्त्तता हुआ जीव यद्यपि विषयभोग करता है, और धनादि पदार्थ ग्रहण करता है—उपार्जन करता है, तथापि अतृप्तिकी करनेवाली अभिलाषाके नहीं होनेके कारण इस को जिसका कि मन ज्ञान दर्शन और देशचारित्रमें लग गया है, धन भोगादि जितने पदार्थ प्राप्त होते हैं, उतने ही संतोषित कर देते है। सद्बुद्धिके प्रभावसे उस समय यह जितना प्रयत्न ज्ञानादिके लिये करता है, उतना धनादिके लिये नहीं करता है, इससे नये रागादि विकारोंकी वृद्धि नहीं होती है और प्राचीनोंकी क्षीणता होने लगती है। इसके सिवाय पूर्वके संचित किये हुए कर्मोंका परिपाक होनेसे यद्यपि इसे कभी २ शारीरिक और मानसिक कष्ट होते है, तथापि वे अनुबन्धरहित होनेके कारण बहुत समय तक नहीं ठहरते है। इससे यह जीव संतोष और असंतोषके गुण दोष जानने लगता है और उत्तरगुणोंकी प्राप्तिसे इसका चित्त आनन्दित रहने लगता है।

आगे कथा[1]—प्रसंगमें कहा है कि, एक दिन उस दरिद्रीने अपनी सद्बुद्धि नामकी परिचारिकासे पूछा कि, "हे भद्रे! मेरा शरीर और चित्त अब प्रसन्न रहने लगा है, सो इसका क्या कारण है?" तब उसने इसके दो कारण बतलाये, एक तो ठीकरेके बुरे भोजनमें जो तीव्र लालसा रहती थी, उसका अभाव और दूसरा तीर्थजल-

---

१ इसका सम्बन्ध पृष्ठ ४३ की पहिली पंक्तिसे है।

आदि तीनों औषधियोंका सेवन। इन दोनों कारणोंको उसने युक्ति-पूर्वक समझा भी दिये। इस जीवके सम्बन्धमें भी यह कथन बराबर घटित होता है;—अपनी सद्‌बुद्धिके साथ पर्यालोचना करनेसे वा उससे पूछनेसे ही जीव समझता है कि, मुझे जो यह शरीर और मनकी निवृत्तिरूप स्वाभाविक सुखकी प्राप्ति हुई है, सो विषयादिकोंकी अभिलाषाका त्याग करनेसे और सम्यग्दर्शनादिका सेवन करनेसे हुई है। और पूर्वके अभ्यासके कारण यद्यपि यह जीव विषयादि सेवन करनेमें प्रवृत्त रहता है, तो भी सद्‌बुद्धिसहित होनेके कारण इस प्रकार विचार करता है कि, मुझ सरीखे पुरुषको ऐसा करना ठीक नहीं है। इससे गृद्धता नही होती है, गृद्धताके नही होनेसे चित्तकी लालसाकी निवृत्ति होती है और उससे प्रशमसुखकी प्राप्ति होती है। इसे सद्‌बुद्धिका युक्तिपूर्वक समझाना समझना चाहिये।

आगे उस सुखरूपी रसका पान करनेवाले दरिद्रीने अपनी परिचारिकाके समक्ष कहा कि, "हे भद्रे! क्या अब मैं इस कुभोजनको सर्वथा फेंक दूं, जिससे मुझे वह आत्यन्तिक सुख प्राप्त हो जाय जिसमें दुःखका लेश भी नही है?" उसने कहा, "छोड़ दो तो अच्छा ही है, परन्तु अच्छी तरहसे विचार करके छोड़ना। क्योंकि यह आपकी अत्यन्त प्यारी वस्तु है! यदि छोड़ देनेपर भी इससे आपका स्नेह नही छूटा, तो उससे इसका नही छोड़ना ही अच्छा है। क्योंकि स्नेह छोड़े विना कुभोजनके छोड़ देनेसे इस समय कुभोजनका सेवन करते हुए भी तीव्र लोलुपताके अभावसे और तीर्थजलादि औषधियोंके सेवनसे जो आपके रोगोंकी क्षीणता दिखलाई देती है, वह भी बहुत दुर्लभ हो जायगी। और सर्वथा त्याग करके फिर आप यदि इसका स्मरण मात्र भी करेंगे,

तो जो रोग क्षीण तथा शान्त हो गये है, वे फिर कुपित हो जावेंगे।" सद्‌बुद्धिकी ये बातें सुनकर भिखारीकी बुद्धि हिंडोलेसरीखी झूलने लगी। वह निश्चय नहीं कर सका कि, 'अब मैं क्या करूं।' इस जीवके सम्बन्धमें इसकी योजना इस प्रकारसे होती है:—

जब इस जीवका स्नेह सांसारिक पदार्थोंसे टूट जाता है और ज्ञानादिके सेवनमें अतिशय अनुरक्त हो जाता है, तब गृहस्थावस्थामें रहनेपर भी यह संतोषसुखके स्वरूपका ज्ञाता हो जाता है। उस समय अविनाशी प्रशमसुखकी वांछासे इसे सर्व संगका (परिग्रहका) परित्याग करनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है और तब यह अपनी सद्-बुद्धिके साथ अच्छी तरहसे आलोचना करता है—विचार करता है कि, मै परिग्रहका सर्वथा त्याग कर सकूंगा या नहीं? तब सद्-बुद्धिके प्रसादसे यह जानता है कि, अनादिकालके अभ्यासके कारण मेरा जीव विषयादिकोंमें लवलीन हो रहा है, इसलिये यदि इसने उस भागवती दीक्षाको धारण कर ली जो कि सारे दोषोंसे रहित होती है और फिर अपनी अनादिरूढ कर्मोंसे उत्पन्न हुई प्रकृतिका अनुसरणकरके (पुरानी आदतसे) विषयादिकोंको चाहकर आत्माकी केवल विडम्बना ही की, तो इससे तो यही अच्छा है कि, वह (निर्ग्रन्थदीक्षा) पहिलेसे ही अंगीकार न की जाय। क्योंकि विना तीव्र अभिलाषाके विषयादिकोंका सेवन करनेवाला गृहस्थ भी ज्ञानादि आचरण जिसमें प्रधान हैं, ऐसा द्रव्यस्तव करके कर्मरूपी अजीर्णको नष्ट कर सकता है और उससे रागादि भावरोगोंको क्षीण करके कर्मोंको हलका कर सकता है। इस जीवने अपने अनादि-कालके संसारपरिभ्रमणमें पहिले किसी भी समय निर्ग्रन्थदीक्षा नहीं प्राप्त की है, इसलिये यह अत्यन्त दुर्लभ है। सो यदि इस

दुर्लभदीक्षाको पाकर यह फिर भी विषयादिकोंकी अभिलाषा करेगा, तो प्रतिज्ञा किये हुए कार्यको नहीं करनेसे और अतिशय चित्तसंक्लेशके कारण रागादिदोषोंकी बहुत ही वृद्धि होनेसे यह देश-विरतिमें (गृहस्थावस्थामें) होनेवाली कर्मोंकी लघुताको भी नहीं कर सकेगा।

जिस समय यह जीव उपर्युक्त प्रकारसे विचार करता है, उसी समय चारित्रमोहनीय कर्मोंके वर्तमान अंशोंसे उसकी सर्व परि-ग्रहके त्याग करनेकी बुद्धि अस्तव्यस्त होकर फिर भी डोलने लगती है। तब वीर्यकी (पराक्रमकी) हानि होती है और उससे यह इस प्रकारके झूठे अवलम्बनोंका आश्रय लेता है, अर्थात् बहाने बनाता है कि,—यदि मै दीक्षा ले लूंगा, तो यह मेरा मुख देख-कर जीनेवाला कुटुम्ब दुखी होगा—मेरे विरहमें यह नहीं रह सकेगा। बेसमयमें इसे कैसे छोड़ दूं? यह मेरा बेटा अभी तक बलहीन है (नाबालिग है), लड़की विना ब्याही है, बहिनका पति परदेशको गया है अथवा मर गया है, इसलिये इसका मुझे पालन करना चाहिये। यह भाई है, सो अभीतक घरका भार उठानेके योग्य नही हुआ है, माता पिता है सो इनका शरीर वृद्धावस्थाके कारण बहुत ही जर्जरा हो गया है और मुझपर इनका अतिशय स्नेह है, और मेरी स्त्री है, सो गर्भवती है। इसका मुझपर बहुत ही दृढ़ अनुराग है, इसालिये यह मेरे विना कभी नहीं जीवेगी। फिर मै ऐसे निराधार कुटुम्बको कैसे छोड़ दूं? मेरे पास बहुत-सा धन है और बहुत लोग मेरे ऋणी (कर्जदार) हैं। जिसकी भक्तिकी अच्छी तरहसे परीक्षा कर ली है ऐसा मेरा यह परिवार और बन्धुजनोंका समूह है। इसका पालन करना मेरा कर्तव्य है।

इसलिये मै आसामियोंसे रुपया उगाकरके (वसूल करके), उसको परिवारके लोगोंको सौंप करके, धर्ममार्गसे धनकी व्यवस्था करके, और माता पितासे प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा लेकरके; इस तरह गृहस्थके सारे काम करके दीक्षा लूंगा। अभी इस बेसमयकी बकबकसे क्या लाभ है ?

और यह निर्ग्रन्थदीक्षा लेना साक्षात् स्वयंभूरमण समुद्रका भुजाओंसे तरना है, गंगाके पूरके सम्मुख चलना है, लोहेके जौ चबाना है, लोहेके गोलोंका निगलना है, कम्बलका सूक्ष्म पवनसे भरना है, सुमेरुपर्वतका मस्तकसे फोड़ना है, समुद्रका कुशाके अग्रभागसे मापना है, तेलसे लबालब भरे हुए कटोरेका एक बूंद भी गिराये विना सौ योजन तक दौड़ते हुए ले जाना है, आठ चक्रोंके भीतर दाहिने वॉये निरन्तर भ्रमण करती हुई पुतलीके वॉयें नेत्रको वाणसे छेद देनेके समान है, और तेजकी हुई तलवारकी धारपर 'पैर कहां पड़ता है' इसका विचार किये विना चलनेके समान है। क्योंकि इसमें परीषहोंका सहन करना चाहिये, देवादिकोंके किये हुए उपसर्गोंके सम्मुख होना चाहिये, सारे पापोंको छोड़ना चाहिये, सुमेरु पर्वतके समान भारी शीलका (मग्नशीलका) भार बहन करना चाहिये, आत्माको सदा [1]माधुकरी वृत्तिसे वर्ताना चाहिये, देहको कठोर तपसे तपाना चाहिये, संयमको आत्मीयस्वभाव बनाना चाहिये, रागादिकोंको जड़से उखाड़के फेंक देना चाहिये, हृदयके अंधकारके फैलावको नष्ट कर देना चाहिये। अधिक कहनेसे क्या अप्रमत्त चित्तसे महामोहरूप वेतालको भी हनन करना चाहिये।

---

१ जिस तरह मधुकर (भौरा) सब फूलोंमेंसे रस ले लेता है परन्तु किसी फूलको कष्ट नहीं पहुचाता है, उसी प्रकारसे जैनमुनि श्रावकोंके यहा उन्हें जरा भी कष्ट नही पहुचाकर आहार लेते है। इस भिक्षावृत्तिको माधुकरीवृत्ति कहते है।

परन्तु मेरा शरीर कोमल शय्या (सेज) और सुन्दर आहारादिसे लालन पालन किया हुआ है और चित्त भी इसी प्रकारके संस्कारोंसे संस्कृत है, इस लिये मेरी सामर्थ्य नहीं है कि, मैं इस बड़े भारी भारको उठा सकूं। और यह अवश्य है कि, जब तक सब प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करके—सारे दंदफन्दोंसे अलग होकर जैनेश्वरी दीक्षा नहीं धारण की जायगी, तब तक सम्पूर्ण प्रशम सुखकी अथवा सारे क्लेशोंके अभावस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इससे मै अब क्या करूं? यह कुछ भी समझमें नहीं आता है। इस प्रकारसे यह जीव अपने कर्तव्यका निश्चय न कर सकनेके कारण अपने हृदयको सन्देहरूपी हिंडोलेमें झुलाता हुआ कितना ही समय विचार ही विचारमें पूरा कर देता है।

आगे[1] कथामें कहा गया है कि, एक दिन उस भिखारीने महाकल्याणक भोजनसे पेट भर लेनेके पश्चात् लीलाके वश थोडासा ठीकरेका कुभोजन चख लिया। उस दिन तृप्ति हो चुकनेके बाद कुभोजन करनेके कारण उसके कुथितत्व (सड़कर जीव पड़ जाना) विरसत्व (चलितरस हो जाना वा स्वाद बिगड़ जाना) और निन्द्यत्व आदि जैसेके तैसे गुण भिक्षुकके चित्तमें भास गये और इससे उस कुभोजनसे उसको घृणा हो गई। अतएव अब चाहे जो हो, इस कुभोजनका मुझे त्याग कर ही देना चाहिये, ऐसा अपने मनमें निश्चय करके उसने सद्बुद्धिसे कहा। सद्बुद्धिने कहा कि, "इसे धर्मबोधकरके साथ भलीभांति सलाह करके वा पर्यालोचना करके छोड़ना चाहिये।" तदनुसार भिखारीने धर्मबोधकरके निकट जाकर अपना अभिप्राय प्रगट किया और उसने भी विचार करके उस

---

१ इसका सम्बन्ध ४४ पृष्ठके तीसरे पारिग्राफके साथ है।

कदन्नका त्याग करा दिया। फिर उसके ठीकरेको निर्मल जलसे साफ करके परमान्नसे भर दिया। उस दिन बड़ा भारी उत्सव किया गया और लोगोंके कहनेसे उस भिखारीका '**सपुण्यक**' नाम पड़ गया। यह सब वृत्तान्त इस जीवके सम्बन्धमें जो कि गृहस्था-वस्थामें वर्त्त रहा है और जिसकी बुद्धि दीक्षा लेनेके लिये दोलाय-मान है, इस प्रकारसे योजित होता है:—

जब यह प्रशमसुखके आस्वादका जाननेवाला जीव संसारके प्रपंचोंसे विरक्त हो जाता है परन्तु किसी एक अवलम्बनके कारण घरमें बना रहता है, तब उत्कृष्ट प्रकारके तप और नियमोंका अभ्यास करता है। सो इसको भिखारीके परमान्नभक्षणके समान समझना चाहिये और उस अवस्थामें जो यह अनादरपूर्वक कभी २ धनका उपार्जन करता है तथा कामसेवन करता है, सो उसे लीलावश कुभोजनके चखनेके समान समझना चाहिये।

गृहस्थावस्थामें जब स्त्री बुरा काम करती है, पुत्र अविनय करता है, लड़की विनयका उलंघन करती है, बहिन विपरीत आचरण करती है, धर्ममार्गमें धनव्यय करनेसे भाई प्रसन्न नहीं होता है, मातापिता लोगोंके साम्हने रोते हैं कि 'यह गृहस्थके काम काजोंकी ओर ध्यान नहीं देता है' बन्धुवर्ग बुरा आचरण करते है, परिवारके लोग वा नोकर चाकर आज्ञासे उलटे चलते हैं, बहुत कुछ लालन पालन करनेपर भी देह दुष्ट मनुष्यके समान रोगादि विकार उत्पन्न करती है, और धन विजलीके विलासके समान विना समयके ही विलयमान् हो जाता है, तब प्रशमसुखरूप परमान्नसे संतृप्त हुए जीवके मनमें यह सम्पूर्ण संसार कुभोजन-के समान जैसाका तैसा भास जाता है। उस समय इसे संसारसे

अतिशय संवेग हो जाता है, इसलिये यह एकान्तमें बैठकर अपने मनमें विचार करता है कि,—"अहो! जिनके लिये मैं परमार्थको जानकर अर्थात् वस्तुतत्त्वको समझकर भी अपने कार्यकी (आत्मोन्नति) अवहेलना करके घरमें रहता हूं, उन कुटुम्बी जनोंका भी तथा धन शरीरादिका भी हाय! यह परिणाम है यह दशा है! तो भी मुझ विना सोचे समझे करनेवालेसे इनका स्नेह तथा मोह नही छूटता है। सचमुच यह अविद्याकी ही लीला है, जो ऐसे कुटुम्ब धनादिमें भी मेरा चित्त उलझा हुआ है और मै दीक्षा नही ले सकता हूं। भला अब मैं अपने प्रयोजनसे विरुद्ध कार्य करनेमें तत्पर होकर अपने आत्माको क्यों ठगूं? अर्थात् इस गृहस्थाश्रममें क्यों फँसा रहूं? इन सारे अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहोंको जो कि कीचड़के समान फँसाए रहनेवाले है और जिनका रेशमके कीड़ेके समान आपको कैद कर रखने मात्र फल है, अब मै छोड़े देता हूं। यद्यपि जब जब मै विचार करता हूं, तब तब मेरे इस विषयोंके स्नेही चित्तमें ऐसा ही भास होता है कि, यह समस्त परिग्रहका त्याग दुष्कर (कठिन) है, तो भी अब मुझे इसका त्याग कर ही देना चाहिये, पीछे "**यद्भाव्यं तद्भविष्यति**" अर्थात् जो होनेवाला होगा, सो होगा। अथवा इसमें होना ही क्या है? कुछ भी नही। यदि कुछ होना होता, तो जब इस असुन्दर परिग्रहको किंचित् छोड़ा था, तब ही होता। परन्तु इसके छोड़नेसे तो चित्तमें उपमारहित प्रमोद ही उत्पन्न होता है। इसलिये जब तक जीव इस परिग्रहरूपी कीचड़में हाथीके समान फँसा रहता है, तब ही तक इसे यह दुस्त्यज (कठिनाईसे भी जो न छूट सके) जान पड़ता है, परन्तु जब इस कीचड़से निकल जाता है, तब विवेक होनेके कारण

यह धनविषयादिके सम्मुख भी नहीं देखता है। "**को हि नाम सकर्णको लोके महाराज्याभिषेकमासाद्य पुनश्चाण्डालभावमात्मनोऽभिलषेत्**" अर्थात् ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो एक बड़े भारी राज्यको पाकर फिर अपने पूर्वके चाण्डालपनेको पानेकी इच्छा करता है।" इस प्रकार विचार करके यह जीव "अब मुझे यह सारा परिग्रह छोड़ ही देना चाहिये–इसके छोड़नेसे मेरा कुछ भी अपाय नही होगा–अर्थात् मुझे कुछ भी दु:ख नहीं होगा," ऐसा स्थिर निश्चय कर लेता है।

फिर सद्बुद्धिके साथ विचार करके यह ऐसा निश्चय करता है कि मुझे इस प्रयोजनके विषयमें धर्मगुरुसे पूछ लेना चाहिये। तदनुसार उनके समीप जाकर विनयपूर्वक अपना अभिप्राय प्रगट करता है, तब वे उसकी प्रशंसा करते है और कहते है कि, "हे भद्र! तुम्हारा अभिप्राय बहुत सुन्दर है परन्तु इस मार्गपर चलनेका महापुरुषोंको ही अभ्यास रहता है– महापुरुष ही इस कठिन मार्गपरमे चल सकते है, कातर (डरपोंक, कायर) पुरुषोंको इस मार्गमें दु:ख होता है; इस लिये यदि तुम इसपर चलना चाहते हो, तो धैर्यका दृढ आलिंगन करो। क्योंकि जिनके चित्तमें उत्कृष्ट धैर्य नही होता है, वे पुरुष इस मार्गके अन्त तक नहीं पहुंच सकते है-बीचहीमें गिर जाते है।" इसे धर्मबोधकरके भिखारीको समझानेके तुल्य समझना चाहिये। इसके पश्चात् यह जीव गुरुमहाराजके वचनोंको स्वीकार करता है और गुरुमहाराज इसे इसकी भलीभांति परीक्षा करके तथा समीपके रहनेवाले गीतार्थ मुनियोंके साथ भी इसकी योग्यताका विचार करके दीक्षा दे देते हैं। यहां सम्पूर्ण परिग्रहके त्यागको कुभोजन छोड़नेके समान समझना चाहिये।

पश्चात् इस जीवनमें जीवने जो २ पाप किये हैं, उनकी गुरुमहाराज आलोचना कराके उसके जीवितव्यकी शुद्धि करते हैं। सो इसे भिक्षाके ठीकरेको निर्मल जलसे साफ करनेके समान समझना चाहिये और फिर सम्यक्चारित्रका आरोपण करते हैं, सो इसे साफ किये हुए ठीकरेको परमान्नके भोजनसे भरनेके तुल्य जानना चाहिये।

जीवके दीक्षा लेनेके समय गुरु महाराजके प्रसादसे बिम्बपूजा संघपूजा आदि भव्यजीवोंके आनन्दित करनेवाले कार्य तथा सन्मार्गकी प्रवृत्ति करानेवाले और बहुतसे उत्सव होते हैं। तथा "इस बेचारेको हमने संसाररूपी बीहड़ वनके पार लगा दिया" इस प्रकारकी भावनासे गुरुमहाराजके चित्तको संतोष होता है। इससे जीवपर उनकी बड़ी भारी दया होती है और उसके (दयाके) प्रसादसे ही इसकी सद्बुद्धि अतिशय निर्मल होती है। उस समय जीवके ऐसे उत्तम आचरण देखकर लोगोंमें भी जिनशासनकी प्रभावना करनेवाले अच्छे २ विचार उत्पन्न होते हैं। इन सब बातोंको पूर्व कथामें कहे हुए नीचेके श्लोकके तुल्य समझना चाहिये,—

धर्मबोधकरो हृष्टस्तद्दया प्रमदोद्धुरा।
सद्बुद्धिर्वर्द्धितानन्दा मुदितं राजमन्दिरम्॥

अर्थात् यह देखकर धर्मबोधकर हर्षित हुआ, तद्दया उन्मत्त हो गई, सद्बुद्धिका आनन्द बढ़ गया और सारा राजमन्दिर प्रमुदित हो गया।

इस जीवने जिस समय सुमेरु पर्वतके समान महाव्रतोंका महा भार धारण किया, उस समय भव्य जीव भक्तिसे गद्गद और रोमांचित होकर प्रशंसा करने लगे,:—यह धन्य है! यह कृतार्थ है! इस महात्माका जन्म लेना सार्थक है! इसकी इस सत्प्रवृत्तिके

देखनेसे भली भांति निश्चय होता है कि, परमात्माकी इसपर सुदृष्टि हुई है और धर्माचार्य महाराजके चरणोंका प्रसाद इसे प्राप्त हुआ है। इसीसे इसके चित्तमें ऐसी सुन्दर बुद्धिका आविर्भाव हुआ है जिससे कि इसने सम्पूर्ण अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहोंका त्याग कर दिया, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयका ग्रहण किया और रागादि विकारोंका प्राय: नाश कर डाला। बड़े पुण्यशालियोंके ही ऐसी घटनाएं होती हैं, इसलिये उस समय लोगोंने इसका '**सपुण्यक**' ऐसा सयुक्तिक वा सार्थक नाम प्रचलित कर दिया।

आगे कथामें कहा है कि, अब अपथ्यका सेवन नहीं करनेसे उस दरिद्रीके शरीरमें रोगपीड़ा नहीं होती थी और यदि कभी पूर्वके विकारोंसे होती थी, तो बहुत थोड़ी होती थी और सो भी शीघ्र ही मिट जाती थी। पूर्वोक्त तीर्थजलादि तीन औषधियोंके निरन्तर सेवन करनेसे उसके धैर्य बल आदि गुण बढ़ते थे। यद्यपि रोगोंकी सन्तति बहुत होनेके कारण अभी तक वह सर्वथा निरोग नहीं हुआ था, तौ भी उसके स्वास्थमें पहिलेकी अपेक्षा बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया था और इसी लिये कहा था कि:—

य प्रेतभूतः प्रागासीद्गाढबीभत्सदर्शनः।
न तावदेश सम्पन्नो मानुषाकारधारकः॥

अर्थात् "पहिले जो पिशाचके समान अतिशय घिनौना दिखता था, वह अब मनुष्यके समान आकारका धारण करनेवाला हो गया।" ये सब बातें जीवके विषयमें समानरूपसे घटित होती हैं। यथा;—

इस जीवको गृहादि झंझटोंका भावपूर्वक त्याग करनेसे रागादि रोगोंकी पीड़ा नहीं होती है। क्योंकि कारणके अभावसे कार्यका भी अभाव होता है। गृहआदि परिग्रह कारण हैं और रागादि

विकार कार्य हैं। और यदि कभी पूर्वोपार्जित कर्मोंके उदयसे होती है, तो वह थोड़ी होती है और बहुत समय तक नहीं रहती है। तब यह संसारके व्यापारादि कार्योंकी अपेक्षा नही रखनेवाला जीव वांचना, पृच्छना (पूंछना), परावर्त्तना (पहिलेका याद करना), अनुप्रेक्षा (मनन करना), और धर्मकथारूप पांच प्रकारका स्वाध्याय करके अपने ज्ञानको बढ़ाता है, जिनशासनकी उन्नति करनेवाले शास्त्रोंके अभ्यासादिसे सम्यग्दर्शनको दृढ़ करता है, और उत्कृष्ट प्रकारके तप नियमादिकोंका पालन करके चारित्रको आत्मस्वरूप बनाता है। इस सब कथनको तीनों औषधियोंके भावपूर्वक सेवन करनेके तुल्य समझना चाहिये।

इस प्रकारकी दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणतिमे जीवके बुद्धि, धीरज, स्मृति, बल आदि गुण प्रगट होते है। यद्यपि बहुतसे रागादि भावरोग जो कि अनेक जन्मोंमें कमाये हुए कर्मोंके परिपाकसे उत्पन्न होते है; सत्तामें बने रहते है जिससे कि अभीतक यह सर्वथा रोगरहित नही होता है, तो भी इसके रोग बहुत ही क्षीण वा हलके हो जाते है। यही कारण है, जो यह जीव पहिले बहुत ही बुरे कार्योंके करनेमें रुचि रखता था और उन्हे आत्मरूप अनुभव करता था, सो अब धर्मके कार्य करनेमें रुचि रखता हुआ उस धर्मको निजरूप अनुभव करता है।

आगे जैसे तीर्थजलादि औषधियोंके सेवन करनेसे उस भिखारीका चिरकालके अभ्यस्त किये हुए तुच्छता (ओछाई) क्लीबता (नपुंसकता), लालच, शोक, मोह, भ्रम आदि भावोंको छोड़कर कुछ उदारचित्त होना बतलाया है, उसी प्रकारसे यह जीव भी ज्ञान दर्शन और चारित्रके सेवनके प्रभावसे अपने तुच्छतादि

भावोंको जो कि अनादिकालसे परिचित हो रहे हैं छोड़कर कुछेक उदारहृदय होता है।

और आगे कहा है कि, उस प्रसन्नचित्त भिखारीने सद्बुद्धिसे पूछा कि, " हे भद्रे ! मुझे ये तीन औषधियां किस कर्मके फलसे प्राप्त हुई है ? " तब उसने कहा कि, "**स्वयं दत्तमेवात्र लोके लभ्यते** अर्थात् इस संसारमें लोग अपना दिया हुआ ही पाते हैं सो जान पड़ता है कि तुमने किसी जन्ममें दूसरोंको ये औषधियां दी होंगी" यह सुनकर सपुण्यकने सोचा कि, "यदि दिया हुआ फिर मिलता है, तो मै फिर भी बड़े भारी प्रयत्नसे सत्पात्रोंको दान करूं; जिससे कि ये सम्पूर्ण कल्याणोंकी कारणभूत औषधियां मुझे जन्मजन्मान्तरमें भी अक्षय्यरूपसे प्राप्त होवें।" जीवके विषयमें भी ये बातें समान रूपसे घटित होती है। देखिये:—

यह ज्ञानदर्शन और चारित्रजनित प्रशमसुखका अनुभव करनेवाला जीव सद्बुद्धिके प्रसादसे जानता है कि, "ये सम्पूर्ण कल्याणोंके प्राप्त करानेवाले ज्ञान दर्शन और चारित्र यद्यपि अतिशय दुर्लभ हैं, तो भी मुझे किसी प्रकारसे प्राप्त हो गये हैं। इनका पाना पूर्वके किसी शुभाचरणरूप कर्मके विना संभव नहीं। इसलिये जान पड़ता है कि मैने पूर्वजन्ममें इन्हींके समान कोई निर्मल (शुभ) कर्म अवश्य किया होगा जिससे मुझे इनकी प्राप्ति हुई है। " इसके पश्चात् उसे यह चिन्ता होती है कि, "ये ज्ञानदर्शन चरित्र मुझे अविच्छिन्नरूपसे सदा ही कैसे प्राप्त होते रहेंगे ?" फिर इन तीनों रत्नोंको दान करना ही इनके निरन्तर प्राप्त होते रहनेका कारण है, ऐसा वह अपने मनमें निश्चय कर लेता है और स्थिर कर लेता है कि, अब मैं इन्हें अपनी शक्तिके अनुसार सत्पात्रोंको दान करूंगा, जिससे मेरे मनोरथकी सिद्धि हो।

वह सपुण्यक दरिद्री यद्यपि यह निश्चय कर चुका था कि, मैं तीर्थजलादि औषधियोंका दान करूं, परन्तु उसे यह अभिमान था कि, म सुस्थित महाराजादिका प्यारा हूं, इसलिये वह यह सोचता था कि, "यदि मुझसे कोई आकर प्रार्थना करेगा, तो मैं औषधियां दूंगा, नही तो नही।" और इस अभिप्रायसे देनेकी इच्छा होनेपर भी वह याचना करनेवालोंकी राह देखा करता था। बहुत कालतक उसने प्रतीक्षा की, परन्तु कोई भी नहीं आया। क्योंकि उस राज-मंदिरमें जो लोग पहिलेसे थे, उनके पास तो इससे भी अच्छी औषधिया थीं और जो मनुष्य उसी समय मन्दिरमें प्रवेश करनेके कारण उन औषधियोंसे रहित थे, उन्हें भी औषधियोंकी कमी नहीं थी—वे भी बहुत सी पा लेते थे। इससे वह दरिद्री चारों दिशाओंकी ओर देखता हुआ बैठा रहता था, परन्तु औषधियोंको लेनेके लिये उसके समीप कोई भी नही आता था। इस जीवके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये;—

दूसरोंको ज्ञान दर्शन चारित्रका दान करनेकी इच्छा होनेपर भी जीव विचार करता है कि, "मुझपर भगवानकी दृष्टि पड़ी है, धर्माचार्य महाराज मुझे बहुत मानते हैं, मुझपर उनकी श्रेष्ठ अनुग्रह करनेमें तत्पर रहनेवाली दया सदा ही रहती है, सद्बुद्धिका मेरे हृदयमें कुछ २ विकास हो गया है, और सब लोग मेरी प्रशंसा करते है, इससे सचमुच ही मै पुण्यवान् होनेके कारण लोकशिरो-मणि हो गया हूं।" इस प्रकारके विचारसे जीवको मिथ्याभिमान उत्पन्न होता है। यह इस बातका बहुत अच्छा उदाहरण है कि, "सर्वथा निर्गुणी पुरुषका भी यदि महापुरुष गौरव करते हैं, तो उसके हृदयमें बड़ा भारी अभिमान हो जाता है।" यदि ऐसा

नहीं होता, तो यह जीव अपनी पूर्वकी सारी नीचताओंको भूलकर ऐसा अभिमान क्यों करता? उस समय यह विचारता है कि, "जब कोई मुझसे विनयपूर्वक प्रार्थी होकर ज्ञानादिका स्वरूप पूछेगा, तब ही मैं उनका निरूपण करूंगा—विना पूंछे उपतकर नहीं।" इस प्रकारके अभिप्रायकी विडम्बनामें पड़कर जीव इस मुनियोंके शासनमें बहुत समय तक रहता है, परन्तु इसके पास कोई भी पूछनेवाला नहीं आता है। क्योंकि जिनशासनमें जो जीव भावपूर्वक रहते है, वे तो स्वयं ही ज्ञानदर्शनचारित्रको अच्छी तरहसे धारण करनेवाले होते है—इस प्रकारके उपदेशकी अपेक्षा नहीं रखते हैं और जो जीव तत्काल ही कर्मविवरको पाकरके (कर्मोंके विच्छेदसे) सन्मार्गपर पैर रखनेके सन्मुख हुए हैं, अर्थात् जिन्होंने जैनशासनमें हाल ही प्रवेश किया है, और अब तक जो सम्यग्ज्ञानदर्शनादिसे रहित हैं, वे इस (याचकोंकी राह देखनेवाले) जीवके सन्मुख भी नहीं देखते हैं—याचना करनेकी तो बात ही जुदी है। क्योंकि उन्हें जैनशासनमें दूसरे बहुतसे महानुबुद्धिके धारण करनेवाले महात्मा मिलते है कि जो सम्यग्ज्ञानादिका निरूपण करनेमें बहुत चतुर होते है और जिनके पाससे वे सम्यग्ज्ञानदर्शन और चारित्रको विना किसी प्रकारके कष्टके इच्छानुसार प्राप्त कर सकते है। अतएव यह अभिमानी जीव किसी भी प्रार्थीके न आनेसे व्यर्थ ही अपनेको बड़ा मानता हुआ चिरकाल तक बैठा रहता है और अपना कुछ भी स्वार्थ नहीं साध सकता है।

आगे कथामें कहा है कि, फिर उस सपुण्यकने सद्बुद्धिसे पूछा कि, "मुझे इन औषधियोंका दान किस प्रकारसे करना चाहिये।" तब उसने कहा कि, "हे भद्र! बाहर निकालकर घोषणापूर्वक

(आवाज लगा लगा कर) औषधियां वितरण करना चाहिये।" तदनुसार सपुण्यक उस राजकुलमें खूब ऊंचे स्वरसे घोषणा करता हुआ भ्रमण करने लगा कि "हे लोगो! मेरी इन तीन औषधियोंको लो, ग्रहण करो।" उसकी यह घोषणा सुनकर जो उसीके समान तुच्छप्रकृतिके लोग थे, उन्होंने तो वे औषधियां ग्रहण की, परन्तु जो महत्पुरुष थे—उच्च प्रकृतिके थे, उन्हें वह प्रायः हास्यके ही योग्य प्रतिभासित हुआ और उन्होंने उसकी अनेक प्रकारसे हँसी उड़ाई वा निन्दा की। निदान उसने यह सब वृत्तान्त सद्बुद्धिसे कहा। वह बोली कि, "हे भद्र! ये लोग तुम्हें तुम्हारे पहिलेके भिखारीपनेका स्मरण करके अनादरकी दृष्टिसे देखते है और इसलिये तुम्हारी दी हुई औषधियोंको नहीं लेते है। अतएव यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि, इन औषधियोंको सब ही लोग लेवें, तो मेरे मनमें इसका यह उपाय झलका है कि, तुम एक बड़े भारी लकड़ीके पात्रमें (कठौतीमें) इन तीनों औषधियोंको रखकर उसे राजभवनके आंगनमें ऐसी जगह रख दो जहां सब लोग अच्छी तरहसे देख सकें और तुम स्वयं एक ओर शान्तितासे बैठ जाओ। फिर तुम्हें औषधिदान करनेकी चिन्ता नहीं रहेगी। क्योंकि लोग यह तो जानेंगे नही कि, ये किसकी औषधियां है—ये तो सबके लिये साधारण हैं अर्थात् इन्हें सब कोई ग्रहणकर सकता है—ये सबके लिये रक्खी गई है, ऐसा समझकर सब ही लोग उन्हें लेने लगेंगे। और ऐसा करनेसे यदि एक ही सद्गुणी सुपात्र पुरुष उन्हें ले जायगा, तो उससे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जायगा।" यह सुनकर सपुण्यकने सब वैसा ही किया। इस जीवके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। यथा,

जब इस जीवको महाव्रतीकी अवस्थामें ज्ञानादिका ग्रहण करने-

वाला कोई पात्र नहीं मिलता है, तब सद्बुद्धिपूर्वक विचार करनेसे इसे मालूम होता है कि, " मौनका अवलम्बन करके बैठे रहनेसे दूसरोंको ज्ञानादिका दान नहीं किया जा सकता है और वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्ञानादिकी प्राप्ति करा देनेके सिवाय संसारमें और कोई उपकारका कार्य नहीं है । जिस पुरुषको सन्मार्गकी प्राप्ति हुई हो और यदि वह यह चाहता हो कि, जन्म-जन्मान्तरमें भी मुझे सन्मार्ग मिलता जाय, तो उसे चाहिये कि निरन्तर परोपकार करनेमें तत्पर रहे। क्योंकि परोपकार करनेहीसे पुरुषके गुणोंका उत्कर्ष होता है। यदि परोपकार सम्यक् प्रकारसे (भलीभांति) किया जाय, तो वह धीरताको बढ़ाता है, दीनताको कम करता है, चित्तको उदार बनाता है, पेटार्थूपनको छुड़ाता है, मनमें निर्मलता लाता है और प्रभुताको प्रगट करता है। इसके पश्चात् परोपकार करनेमें तत्पर रहनेवाले पुरुषका पराक्रम (वीर्य) प्रगट होता है, मोहकर्म नष्ट होता है, और दूसरे जन्मोंमें भी वह उत्तरोत्तर क्रमसे अधिकाधिक सुन्दर सन्मार्गोंको पाता है। तथा ऊपर चढ़कर फिर कभी नीचे नही गिरता है। इसलिये ज्ञानदर्शन-चारित्रका स्वरूप प्रकाशित करनेके लिये जितना अपनेसे बन सके, उतना स्वयं उपत करके यत्न करना चाहिये। किसीकी प्रार्थनाकी अपेक्षा नही करना चाहिये अर्थात् यह नहीं सोचना चाहिये कि, जब कोई हमसे आकर पूछेगा, तब हम बतलावेंगे।"

परोपकार करनेके इस सुन्दर सिद्धान्तको समझकर यह भगवानके मतमें महाव्रतीके रूपसे रहनेवाला जीव देशकालका विचार करके जुदे २ नाना स्थानोंमें भ्रमण करता है और बड़े भारी विस्तारसे भव्य जीवोंके लिये ज्ञानदर्शनचारित्ररूप मार्गका प्रतिपादन करता है इसे सपुण्यककी औषधिदान करनेकी घोषणाके समान समझना चाहिये

उस समय जब कि यह उपदेश देता है, जो लोग अतिशय मन्दबुद्धि होते हैं, वे तो इसके उपदेश किये हुए ज्ञानदर्शन चारित्रको कदाचित् ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु जो महान्‌बुद्धिके धारक होते है, वे इसके पुराने दोषोंका स्मरण करके इसे प्रायः हास्यके ही योग्य समझते है। यद्यपि यह उन महापुरुषोंके द्वारा तिरस्कार पाने योग्य है, परन्तु वे इसका तिरस्कार नहीं करते हैं। यह उन महापुरुषोंका गुण है, इसका नहीं।

फिर यह सोचता है कि, ऐसा क्या उपाय किया जाय जिससे मेरे इस ज्ञानदर्शनचारित्रको सब लोग ग्रहण करने लगें। और सद्‌बुद्धिके बलसे निश्चय करता है कि, "यदि मैं साक्षात्‌-रूपसे उपदेश दूंगा, तो ये सब लोग उसे कदापि ग्रहण नहीं करेंगे, इसलिये जिनेन्द्र भगवानके मतके सारभूत तथा निरूपण करनेके योग्य जो ज्ञानदर्शनचारित्र है, उन्हें एक ग्रन्थरूपमें ज्ञेय[1], श्रद्धेय[2] और अनुष्ठेय[3] अर्थके विभागपूर्वक और विषय विषयीके भेदके विना स्थापित करना चाहिये और उस ग्रन्थको इस जिनेन्द्रशासनमें भव्यजनोंके साम्हने खोल कर रख देना चाहिये। ऐसा करनेसे उसमें प्रतिपादन किये हुए ज्ञानदर्शनचारित्र सब लोगोंके ग्रहण करने योग्य हो जावेंगे। यदि यह मेरा रचा हुआ ग्रन्थ बहुत जीवोंके उपयोगमें आवै, और उन्हें ज्ञानादिकी प्राप्ति करावै, तब तो बहुत ही अच्छा। परन्तु अन्ततो गत्वा यदि इससे एक भी प्राणीको उक्त ज्ञानदर्शनचारित्र भावपूर्वक प्राप्त हो गये, तो मै समझूंगा कि, मैने सब कुछ पा लिया—मेरा प्रयत्न सफल हो गया।" इस प्रकार विचार करके इस जीवने (मैने) यह

१ जानने योग्य (ज्ञान)। २ श्रद्धा करने योग्य (दर्शन)। ३ आचरण करने योग्य (चारित्र)।

'यथा नाम तथा गुणवाली' उपमितिभवप्रपंचा नामकी कथा रची है, जो उत्तम शब्दों और अर्थोंके न होनेके कारण सुवर्णपात्री वा रत्नपात्री नही किन्तु ज्ञानदर्शनचारित्ररूप औषधियोंसे भरी हुई होनेके कारण भिखारीकी काष्ठपात्री अर्थात् कठौतीके समान है।

ऐसी स्थितिमें हे भव्यजनो! आप लोग मेरी एक प्रार्थना सुनें:—" जैसे उस भिक्षुककी राजप्रांगणमें (राजमहलके आंगनमें) रक्खी हुई तीनों औषधिया ग्रहण करके उन्हें भली भांति सेवन करनेवाले रोगी निरोगी हो जाते है और उन औषधियोंके ग्रहण करनेसे भिखारीका उपकार होता है अर्थात् उसकी दान देनेरूप इच्छाकी पूर्ति होती है, इसलिये उन रोगियोंको उचित है कि उक्त औषधियोंको ग्रहण करें; उसी प्रकारसे भगवानकी दृष्टिजनित गुरुमहाराजकी कृपासे मेरे हृदयमें जिस सद्बुद्धिका आविर्भाव हुआ है, उससे मैं इस कथामें जिस सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूप रत्नत्रयका वर्णन करूंगा, उसका भली भांति सेवन करनेसे सेवन करनेवाले प्राणियोंके रागादि भावरोग अवश्य नष्ट हो जावेंगे। क्योंकि "**न खलु वक्तृगुणदोषानुपेक्ष्य वाच्याः पदार्थाः स्वार्थसाधने प्रवर्तन्ते**" अर्थात् वर्णन किये हुए पदार्थ वर्णन करनेवालेके गुणदोषोंकी अपेक्षा करके स्वार्थसाधनमें प्रवर्त नहीं होते हैं। तात्पर्य यह कि, जो विषय कहा हो, उस विषयके शब्द ही लाभदायक होते हैं, कहनेवालेके गुणदोषोंसे लाभका कोई सम्बन्ध नही रहता है। यदि कोई पुरुष स्वयं भूखसे दुर्बल हो रहा हो, परन्तु वह अपने स्वामीके लड्डुओंको उसकी आज्ञासे उसके परिवारके लोगोंको बतला देवे और उनके साम्हने परोस देवे, तो क्या उनसे परिवारके लोगोंकी तृप्ति नहीं होगी? बतलानेवालेके भूखे होनेके कारण क्या

वे लड्डू क्षुधाकी निवृत्ति नहीं करेंगे ? अवश्य करेंगे—अपना सन्तुष्ट करनेका गुण कभी नहीं छोड़ेंगे। इसी प्रकारसे वक्ताके दोषसे वक्तव्य विषयके स्वरूपकी हानि नहीं होती है। अभिप्राय यह है कि, यद्यपि मै स्वयं ज्ञानदर्शनचारित्रसे परिपूर्ण नहीं हूं, तो भी भगवानके आगमके अनुसार जो मैने ज्ञानादिका स्वरूप कहा है, उसे जो भव्यप्राणी ग्रहण करेंगे वे रागादिरूप भूखकी शान्तिसे अवश्य ही स्वस्थ हो जावेंगे। क्योंकि उनका स्वरूप ही ऐसा है—मेरे कारण वे अपना स्वरूप नही छोड़ देवेंगे।"

"यद्यपि भगवानके सिद्धान्तोंका एक एक पद ही ऐसा है कि, यदि उसे कोई भावपूर्वक श्रवण कर लेता है तो उसके सारे रागादि रोग जड़से उखड़ जाते है और उनका श्रवण आपके स्वाधीन है अर्थात् आप चाहें तो उन पदोंको जब चाहे तब सुन सकते है और इसी प्रकारसे पूर्व कालके महापुरुषोंकी रची हुई कथाओंके भावपूर्वक श्रवण करनेसे भी रागादि दोष सहज ही नष्ट हो सकते है। परन्तु मेरी इच्छा हुई है कि मै इस (ग्रन्थरचनारूप) उपायसे संसार सागरके पार हो जाऊं, इसलिये आप सब लोगोंको मुझपर अतिशय करुणामय होकर इस कथाका भी श्रवण करना चाहिये।" (ग्रन्थकर्त्ताने यहां अपनी नम्रता निरभिमानता और कोमलताकी पराकाष्ठा बतला दी है। देखिये वे अपने ग्रन्थकी प्रशंसा करके उसके पढ़ने सुननेका आग्रह नहीं करते है, किन्तु अपने पर दया कराके—अपना लाभ बतलाकर निवेदन करते है कि, इसे सुनो!)

उपसंहार।

पहिले कही हुई निष्पुण्यककी कथाके प्रायः प्रत्येक पदका दार्ष्टान्तिक अर्थ (उपनय) इसमें कह दिया गया है। यदि बीच २

में कहीं थोड़ा बहुत न बताया हो, तो उसे इसी प्रकार अपनी बुद्धिसे योजित कर लेना चाहिये। जो लोग संकेतको समझ जाते हैं, उन्हें उपमानके देखते ही उपमेयका ज्ञान हो जाता है—उन्हें उपमेयके समझनेमें कठिनाई नही पड़ती है। इसीलिये इस ग्रन्थकी आदिमें उपमानरूप कथाकी रचना की गई है। इस कथामें प्रायः एक भी ऐसा पद नहीं है, जिसका उपनय न हो अर्थात् जो दार्ष्टान्तमें न घटाया जा सके। इस लिये जो इस विषयमें शिक्षित हो गये है उन्हें उसका (बीच २ में नहीं बतलाये हुए उपनयका) सहज ही सुखपूर्वक ज्ञान हो जायगा। इस विषयमें और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

इह हि जीवमपेक्ष्य मया निजं
यदिदमुक्तमदः सकले जने।
लगति संभवमात्रतया त्वहो
गदितमात्मनि चारु विचार्यताम् ॥

अर्थात्—मैने अपने जीवकी अपेक्षासे यहां जो कुछ कहा है, वह सब संभव होनेके कारण प्रायः सब ही लोगोंपर घटित होता है। इसलिये हे भव्यो! मेरे कहे हुएको अपने आत्मामें भले प्रकार घटाकर विचार करो।

निन्दात्मनः प्रवचने परमो प्रभावो
रागादिदोषगणदौष्ट्यमनिष्टता च।
प्राक्कर्मणामति बहुश्च भवप्रपञ्चः
प्रख्यापितं सकलमेतदिहाद्यपीठे ॥

अर्थात्—ग्रन्थकी इस आदिपीठिकामें अपनी निन्दा, जिनशासनकी अतिशय प्रभावना, रागादि दोषोंकी दुष्टता तथा अनिष्टता

और पूर्वोपार्जित कर्मोंका बहुत बड़ा भवप्रपंच (संसारका विस्तार) ये सब बातें बतलाई गई हैं।

संसारेऽत्र निरादिके विचरता जीवेन दुःखाकरे,
जैनेन्द्रमतमाप्य दुर्लभतरं ज्ञानादिरत्नत्रयम् ।
लब्धे तत्र विवेकिनादरवता भाव्यं सदा वर्द्धते,
तस्यैवाद्यकथानकेन भवतामित्येतदावेदितम् ॥

अर्थात्—इस दुःखकी खानिरूप अनादिसंसारमें भ्रमण करते हुए जीवको जिनेन्द्रभगवानके धर्मकी प्राप्ति होनेपर भी सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ है। जो लोग विवेकी है और विनयी है, वे उक्त दुर्लभ रत्नत्रयको पाकर अपने भव्यत्वभावको निरन्तर बढ़ाते रहते है। ग्रन्थकर्त्ता कहते है कि, इस ग्रन्थकी प्रथमकथामें आपसे इसी विषयका विस्तारके साथ निवेदन किया गया है।

इस प्रकार उपमितिभवप्रपंचाकथाके हिन्दीभाषानुवादमें पीठबन्ध नामका पहिला प्रस्ताव पूरा हुआ।
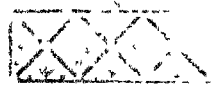
उपमितिभव-

प्रपंचाकथा ।

द्वितीय प्रस्ताव ।

अनुवादकः—

नाथूराम प्रेमी ।

नमो वीतरागाय ।

उपमितिभवप्रपंचा कथा ।

(द्वितीय प्रस्ताव ।)

जिसे

देवरी (सागर) निवासी नाथूराम प्रेमीने
श्रीसिद्धर्षिके मूल संस्कृत ग्रन्थसे
हिन्दीमें अनुवाद की

और

निर्णयसागर प्रेस बम्बईमें छपाकर
प्रकाशित की ।

नवम्बर सन १९१२ ई०

जैनहितैषीका नौवें वर्षका उपहार ।

निवेदन ।

उपमितिभवप्रपंचा कथाका यह दूसरा प्रस्ताव भी अनुवादित होकर उपस्थित है। आशा है कि पाठक पहले प्रस्तावके समान इसका भी आदर करेंगे। यदि कोई विघ्न उपस्थित न हुआ तो, आगेके प्रस्ताव भी इसी प्रकार क्रम क्रमसे प्रकाशित होते रहेंगे।

बम्बई
१७-१०-१२

विनीत—
नाथूराम प्रेमी।

उपमितिभवप्रपंचाकथाके

प्रथम प्रस्तावकी समालोचना।

मूलग्रन्थ संस्कृतमे है उसके प्रथम प्रस्तावका भाषानुवाद श्रीयुक्त नाथूराम प्रेमीने किया है...ग्रन्थ बड़ा मार्मिक है और जैनसिद्धान्तोका आकर (खानि) है। जैनसिद्धान्तोको सुगमतासे समझनेके लिये यह ग्रन्थ बड़ा सहायक है। जैनोको इसका स्वाध्याय करना अवश्य ही कर्तव्य है। साधारण पाठक भी इस ग्रन्थका पाठ करके बहुत लाभ उठा सकते है। ग्रन्थकर्ताने सासारिक जीवोंकी अवस्थाको एक रूपक कथाके द्वारा बड़े प्रभावसे वर्णन किया है। सद्गुरुकी प्राप्तिसे जीव अपने कर्मजन्य दोषोंसे मुक्त होकर किस प्रकार परमपदको प्राप्त हो सकता है इसकी एक चित्तग्राही रूपककथा इस ग्रन्थमें है। ग्रन्थकर्ताने प्रस्तावके अन्तमें कथामें उल्लिखित सब पात्रोंका विश्लेषण करके आन्तरिक वृत्तियोंमे उनकी समता दिखाकर पाठकोंके चित्तको मुग्ध किया है और ग्रन्थ पाठ करते समय जितनी शकाए उठती है, उनको दूर किया है। इस प्रकारके सुपाठ्य ग्रन्थ बहुत कम देख पड़ते है। उसका अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है। ग्रन्थकर्त्ताके भावको अनुवादकने बड़ी कुशलतासे प्रकाश किया है। हमने कई स्थानपर मूल ग्रन्थसे मिलाकर अनुवादका पाठ किया है जिससे अनुवादककी कार्यदक्षताका परिज्ञान हुआ है।... अनुवादकको बहुत धन्यवाद देते है और आशा करते है कि वह सम्पूर्ण ग्रन्थका अनुवाद करके साहित्यका उपकार करेंगे और जैनलोग इस अमूल्य-ग्रन्थके अनुवादको भी जी लगाके पढ़कर अनुवादकको उत्साह प्रदान करेंगे ग्रन्थका छापा और कागज अच्छा है और भाषा भी सरल है। इस प्रकारके ग्रन्थ पाठ करनेमें सबको प्रीति होती है। [सितम्बर सन् १९११]

नागरीप्रचारक, लखनौ.

ओं नमः सिद्धेभ्यः ।

श्री सिद्धर्षिविरचिता—

उपमितिभवप्रपंचा कथा

हिन्दीभाषानुवाद ।

द्वितीय प्रस्ताव ।

इस संसारमें **मनुजगति** नामकी एक नगरी है। जिस तरह सुमेरु पर्वत अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक रहेगा—कभी नष्ट नहीं होगा, उसी प्रकार से यह नगरी सदासे है और सदा रहेगी। जिस प्रकार समुद्र 'महासत्त्वसेवित' अर्थात् बड़े २ मगरमच्छोंसे भरा हुआ है, उसी प्रकारसे यह नगरी 'महासत्त्वसेवित' अर्थात् बड़े २ तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि पुरुषोंसे सेवित है। जिस तरह कल्याणपरम्परा (शुभकर्मोंका समूह) सब प्रकारके मनोरथोंको पूर्ण करती है, उसी प्रकारसे यह सबके मनोरथोंको पूरा करनेवाली है। जिनभगवानकी बतलाई हुई जिनदीक्षा जिसप्रकार साधुओंको आनंद देती है, उसी प्रकारसे यह अच्छे पुरुषोंको आनन्दकी कारण है। और **समरादित्यकी** कथा जिस

प्रकार अनेक वृत्तान्तोंसे युक्त है, उसी प्रकारसे इस नगरीमें निरन्तर अनेक वृत्तान्त होते रहते हैं। इस नगरीको संसारमें इतनी प्रशंसा मिली है कि, मानो इसने तीनों लोकोंको जीत लिया है। और उत्तम साधुओंकी क्रियाओंके समान यह नगरी उन जीवोंको जो कि पुण्यहीन हैं अतिशय दुर्लभ है अर्थात् इस नगरीमें पुण्यहीनोंका प्रवेश नहीं हो सकता है।

यह नगरी धर्मकी उत्पत्तिभूमि, अर्थकी मंदिर, कामकी उत्पादक, मोक्षकी कारण और पंचकल्याणादि महोत्सवोंकी स्थान है। इसमें बड़े २ ऊंचे, विशाल, और सुवर्णरत्नमयी भीतों वाले **मेरु**[1]रूप जिनमन्दिर हैं जो अतिशय मनोहर होनेके कारण परम[2]देवोंके निवासस्थान है। **भारतवर्षादि**रूप पाटक (मुहल्ले) है, जो नाना अद्भुत वस्तुओंके स्थान है और इस कारण जो स्वर्गोंकी भी हँसी करते हैं, तथा **क्षितिप्रतिष्ठित** आदि अनेक पुरों[3]से शोभित हैं। इन मुहल्लोंके **कुलाचल**[4]रूप अतिशय ऊंचे परिक्षेप है; जिनसे कि उनकी हद्दबन्दी हो रही है। नगरीके बीचमें बहुत बड़ा, लम्बा चौड़ा, **विजय**[5]रूप दूकानोंसे शोभित, और महापुरुषोंके समूहसे भराहुआ **महाविदेह**रूप बाजार है, जहांपर कि शुभ और अशुभकर्मरूप मूल्यके अनुसार विक्रीकी चीजें मिलती है। और चारों ओर **मानुषोत्तर**पर्वतरूप परकोटा है, जिसके आगे सूर्य और चन्द्रमाकी गति नही है और जिसको लंघन करके कोई

---

१ विजय अचल आदि पाचमेरु। २ उत्कृष्टदेवोंके, पक्षमें जिनदेवोंके। ३ पक्षमें घरोंसे। ४ हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मि, शिखरी ये छह कुलाचल हैं। ५ विजयादि पर्वत।

परचक्र नही आसकता है। इस परकोटेके परे विस्तृत और गहरी **पुष्करवरसमुद्ररूपी** परिखा है।

इस मनुजगति नगरीमें **भद्रशालादिवनरूप**[2] अनेक बगीचे है, जिनमें विबुध अर्थात् देव वा विद्वान् निवास करते हैं; नाना जीवोंके समूहरूप जलके पूरको बहानेवाली **गंगासिन्धु** आदि नदीरूप बड़ी २ गलियां है और जिनमें ये समस्त गलियां जाकर मिलती है, ऐसे **लवणसमुद्र** और **कालोदसमुद्ररूप** दो बड़े २ राजमार्ग है। इन राजमार्गोंसे विभाजित हुए **जम्बूद्वीप धातकीखंड** और **पुष्करद्वीपार्द्धरूप** तीन पाटक-मण्डल (मुहल्लोंके समूह) हैं। इस नगरीमें कल्पवृक्षरूप बहुतसे स्थानान्तरीय राजा है, जो उचित स्थानोंमें रहते हैं और लोगोंको सुख देते हैं।

उक्त नगरीके गुणोंके गौरवका वर्णन करनेके लिये करोड़ों जीभोंवाला पुरुष भी समर्थ नही हो सकता है, फिर मुझ सरीखे एक जिह्वावाले अल्पबुद्धिकी तो बात ही क्या है? इस नगरीमें अनन्त तीर्थंकर चक्रवर्ती नारायण हलधर आदि महापुरुष पहिले हो चुके, आगे होवेंगे और बहुतसे अब भी होते हैं। इस अनन्तगुणोंसे परिपूर्ण नगरीके विषयमें सारे शास्त्रोंमें इसप्रकार कहा है कि, यह इस लोकमें और लोकोत्तरमें अर्थात् स्वर्गादिकोंमें अतिशय दुर्लभ है। यहां नाना ऊंचे नीचे स्थानोंमें भ्रमण करनेसे थके हुए जीव खेदको खोकर शान्ति प्राप्त करते हैं। यहां-

---

१ मानुषोत्तरपर्वतके चारो ओर पुष्करद्वीपका उत्तरार्ध है और फिर उसके परे पुष्करवर समुद्र है। २ भद्रशालवन महाविदेहमें है। 'आदि' शब्दसे नन्दनवन, सौमनसवन, पाण्डुकवन, भूतारण्य, देवारण्य आदि वन समझना।

के विनयशील, पवित्र, चतुर और अतिशय प्रशंसाके योग्य पुरुष धर्मको छोड़कर अपने चित्तमें अन्य किसी भी बातको स्थान नहीं देते हैं। यहांकी पुण्यवती स्त्रियां निरन्तर बुरे कामोंसे दूर रहती हैं और जिनभगवानके धर्मकी उपासना करती हैं। इस तरह मनुजगतिनगरीके विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इतना ही कहना बस होगा कि, तीनों लोकमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो उसमें रहनेवाले पुरुषोंको प्राप्त नही होसके।

यह मनुजगतिनगरी रत्नाकरों अर्थात् समुद्रों वा रत्नोंकी खानियोंसे परिपूर्ण है, विद्याकी उत्तम भूमि है, नेत्रों और मनको आनन्दित करनेवाली है, दुःखोंके समूहको नाश करनेवाली है. सब प्रकारके आश्चर्योंसे भरी हुई है, जो बातें अन्यत्र नहीं हैं, उनसे युक्त है, मुनिजनोंसे आकीर्ण है, उत्तम श्रावकोंसे भूषित है, जिनेन्द्राभिषेक आदि मंगलकार्योंसे सम्पूर्ण भव्य जीवोंको प्रसन्न करनेवाली है, भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्त करानेवाली है और पापियोंको संसारमें भटकानेवाली है। जीव अजीव पुण्य पाप आदि पदार्थ हैं अथवा नही है, इस प्रकारके विचार बहुत करके इस नगरीमें ही होते हैं। लोग उस पुरुषको बड़ा भारी अभागा और अधम समझते हैं, जो इस नगरीको प्राप्त करके भी सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे युक्त नही होता है। इस नगरीको छोड़कर लोकमें और कोई स्थान ऐसा नही है, जहां धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंकी सम्पूर्ण सिद्धि हो सके।

१ मोक्षका साक्षात् साधन सम्यक्चारित्र मनुष्यगतिमे ही पाला जा सकता है। देवगतिमे भी चारित्रकी पालना नहीं होती। इसी लिये मोक्षपुरुषार्थकी सिद्धि अन्यत्र नही है।

इस नगरीमें एक कर्मपरिणाम[1] नामका बड़ा भारी राजा राज्य करता है, जिसके बल और पराक्रमकी किसीसे तुलना नहीं हो सकती, अपने पराक्रमसे जिसने तीनों भुवनोंको जीत लिया है, और जिसकी शक्तिके आगे इन्द्रचन्द्रादिकी भी कुछ चल नहीं सकती है। वह अपने प्रतापको ही सब कुछ समझता है और नीतिशास्त्रका उल्लंघन करके सारे संसारको एक तिनकेके समान अनादरकी दृष्टिसे देखता है। वह निर्दय है, किसीके दुःखमें उसे दुःख नही होता है और जितने जीव हैं, उनपर सब अवस्थाओंमें विना किसी प्रकारकी अपेक्षा किये वह अपने प्रचण्ड शासन दण्डकी मार मारता है। वह मनमौजी है–क्रीड़ाप्रेमी है, दुष्ट है, लोभादि वीरोंसे घिरा हुआ रहता है, अतिशय चतुर है और नाटक खेलनेकी कलामें पराकाष्ठाको पहुंचा हुआ है अर्थात् इस कार्यमें वह अपना शानी नहीं रखता। वह अपने मदमें सदा विह्वल रहता है, और संसारमें अपने समान किसीको भी मल्ल (पहलवान) नही समझता है। जब वह जुल्म करनेके लिये उतारू होता है, तब किसीको निर्धन कर देता है और फिर जब हास्यकरनेके लिये तत्पर होता है, तब सारे ही लोगोंको नानाप्रकारके आकारोंकी विडम्बनासे विडम्बित करके अर्थात् जुदे जुदे बहुतसे आकार धारण कराके अपने आगे नृत्य कराता है। वे लोग भी उसके प्रतापको सहन न कर सकनेके कारण –उसकी आज्ञाको उल्लंघन करनेका साहस न कर सकनेके कारण जो कुछ वह कहता है, वही करते हैं।

---

[1] ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका परिणाम वा उदय।

जो वेदनासे व्याकुल हो रहे हैं, और तार बांधकर रो रहे हैं, ऐसे जीवोंको भी वह बारबार नचाता है और उससे प्रसन्न होता है। इस तरह ज्यों ज्यों वह उन्हें अतिशय दु खसे विह्वल देखता है, त्यों त्यों उसका मन प्रसन्नतासे उल्लसित होता है। कभी कभी घमंडमें चूर होकर वह उन जीवोंसे—जो कि उसके डरके मारे आज्ञाकी पालना करनेमें आनाकानी नहीं कर सकते हैं—कहता है;—अरे, तुम तिर्यंचोंका आकार धारण करके रंग-भूमिमें शीघ्र ही नाटक खेलो, जिससे मेरा चित्त प्रसन्न हो।

इस आज्ञाको सुनकर वे जीव कौआ, गधा, बिल्ली, चूहा, सिंह, चीता, शार्दूल, हरिण, हाथी, ऊंट, घोड़ा, बैल, कबूतर, बाज, जूं, चींटी, लट, खटमल, आदि अनन्त प्रकारके तिर्यंचोंका रूप धारण करके उस कर्मपरिणाम महाराजके चित्तको प्रसन्न करनेवाला अतिशय हास्यकारक नाटक करते हैं। कभी वह मनुष्योंको कुबड़े, बौने, गूंगे, अन्धे, बूढे, और बहिरे (बधिर), आदि नानाप्रकारके स्वाग भरकर नाटक कराता है, कभी देवोंको ईर्षा शोक और भयसे ग्रसित बनाता है और फिर उनके नाटकको देखकर सन्तुष्ट होता है। और कभी वह स्वेच्छाचारी राजा नाटक देखनेकी उत्कट इच्छासे फिर उन्ही जीवोंको सुन्दर सुन्दर वेषोंसे सजाता है। इस तरह प्राणी उस पराक्रमी महाराजके द्वारा निरन्तर विडम्बित होते रहते हैं, पर बेचारे कभी किसी ऐसे पुरुषको नही पाते है, जो उनकी रक्षा करे—उन्हें इस कष्टसे बचा लेवे। वह इतना स्वतंत्र है कि, उसका वर्णन नहीं हो सकता है, इस लिये जो वह चाहता है, वही करता है—किसीके रोकनेसे नहीं मानता है।

कहीं कोई अपने प्यारोंके वियोगमें दुःखी हो रहा है, कहीं कोई अपने प्रियजनोंके समागमसे सुखी हो रहा है, कहीं कोई रोगोंसे घिर रहा है, कहीं कोई दरिद्रतासे पीड़ित है, कहीं अनेक जीव आपत्तिके मारे हुए दिख रहे हैं, कहीं सम्पत्तिके प्रसादसे उत्पन्न हुए और मनको मोहित करनेवाले नानाप्रकारके आनन्द मंगल हो रहे हैं, कही बड़े २ कुलोंके लड़के अपने कुलकी मर्यादाका उल्लंधन करके अनार्य कार्य (नीचोंके काम) कर रहे है, जिससे बड़ा विस्मय होता है। कहीं अच्छे २ कुलोंकी स्त्रियां अपने प्यार करनेवाले पतिको छोड़कर नीच पुरुषोंसे प्रेम कर रही है और कुलटा बन रही है, जिससे बहुत आश्चर्य होता है। कही पाखंडी लोग अपने २ शास्त्रोंके अनुसार कर्तव्य कर रहे है और हास्यकारक नृत्यकरके दर्शकोंको चमत्कृत कर रहे है। इस प्रकारके नाना वृत्तान्तोंवाले ससाररूपी विचित्र नाटकको वह राजा विना किसी प्रकारकी आकुलताके केवल लीलाबुद्धिसे खिलाता है।

संसार नाटकमें **राग** और **द्वेष** नामके दो मृदंग है और **दुष्टाभिसन्धि** (बुरे परिणाम) नामका पुरुष उनको बजाता है। **क्रोध मान** आदि सुन्दर कंठवाले गवैये हैं, **महामोह** सूत्रधार नाटकका प्रवर्त्तक है, **रागाभिलाष** नान्दी मंगलका पढ़नेवाला है, **काम** नामक विदूषक है, जो अनेक प्रकारकी हाव भाव कटाक्षादि युक्त चेष्टाएँ करता है—कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल **लेश्या** नामके रंग विरंगे श्रृंगार हैं, जिनसे पात्र सजाये जाते हैं। सचित्त शीतादि **योनियां** नाटकमें प्रवेश

करनेवाले पात्रोंकी नेपथ्य भूमियां (सजकर आनेका स्थान) है, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह **संज्ञा** नामक कंशिका (झांझें?) हैं, **लोकाकाश** नामकी विशाल रंगभूमि है, और पुद्गलस्कन्ध नामकी शेष सामग्रियां (दीगर चीजें) हैं। इस तरह इस सारी सामग्रियोंसे परिपूर्ण नाटकगृहमें वह **कर्मपरिणाम** राजा नाना-प्रकारके पात्र सजाता है, उन्हें बारबार लौटता पलटता है— किसीको कुछ बनाता है किसीको कुछ; और यों उन सबको हैरानकरके आप प्रमुदित होता है। इस विषयमें और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं दिखती, इतना ही कहना बस है कि, ऐसी कोई भी वस्तु नही है, जो उस महान् राजाको अच्छी लगती हो और वह उसे नही बनाता हो।

जिस तरह मदोन्मत्त जंगली हाथी जिसके कि कपोलोंसें मद झरता है सब जगह अस्खलित गतिसे स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करता है, और जो जीमें आता है, वही करता है, उसी प्रकारसे कर्मपरिणाम महाराज भी स्वच्छन्दतापूर्वक सर्वत्र ही विचरते है और मनमाने काम करते है। कर्मपरिणाम महाराजकी एक **कालपरिणति** नामकी महारानी है, जो कि सारे अन्तःपुरकी तिलक स्वरूप है, और जिस तरह ऋतुओंमें शरदऋतुकी शोभा, शरदऋतुमें पुष्करिणी (सरोवरी) की शोभा, पुष्करिणीमें कमलोंकी शोभा, कमलोंमें सुन्दर कण्ठवाले हंसोंकी शोभा, और हंसोंमें राजहंसोंकी शोभा प्रधान होती है, उसी प्रकारसे वह कर्मपरिणामकी, **नियति यदृच्छा** आदि दूसरी रानियोंमें अपने रूप लावण्य वर्ण विज्ञान विलास नृत्य आदि गुणोंकी रमणीयतासे अतिशय प्रधान हो रही है।

महाराजको वह प्राणोंके समान अतिशय प्यारी है, निजचित्त-वृत्तिके समान मान्य है अर्थात्—जो वह करती है, उसे वे मानते है, जिस तरह कोई किसी कामके करते समय अपने मंत्रियोंसे सलाह लेता है, उसी प्रकार वे कोई जरासा भी काम करते हैं, तो उससे पूछकर करते हैं, सुमित्रोंके समान उसपर विश्वास करते हैं, और अधिक क्या कहा जाय, उनका सारा राज्य उसीके द्वारा चलता है—एक प्रकारसे वह उसीके आधीन है। और इस लिये जिस तरह चन्द्रमा चांदनीको, कामदेव रतिको, विष्णु लक्ष्मीको, तथा महादेव पार्वतीको, कभी अकेली नही छोड़ सकते हैं, उसी प्रकार कर्मपरिणाम महाराज भी उसे वियोगदुःखके सहनेमें कायर होनेके कारण आपसे जुदी नही करते हैं। और तो क्या वे उसे चलते बैठते हुए भी अपने समीप रखते हैं। वह भी अपने पतिपर अतिशय प्यार करती है और जो वे कहते हैं, उसीके अनुसार काम करती है—उनके वचनोंके प्रतिकूल कोई भी काम नही करती। **"परस्परानुकूलतया हि दम्पत्योः प्रेम निरन्तरं सम्पद्यते नान्यथा।"** अर्थात् पुरुष और स्त्रीमें एक दूसरेकी अनुकूलतासे ही गाढ़ा प्रेम होता है और किसी प्रकारसे नही।" इस नीतिके अनुसार उन दोनोंमें (राजा रानीमें) गहरा प्रेम है और उसके विचलनेकी किसी प्रकारकी आशंका नहीं है—यह डर नही है कि, उनके परस्परके प्रेमका तार कभी टूट जावेगा।

महारानी कालपरिणति महाराजकी उक्त प्रसन्नताकी वा अनु-कूलताकी अधिकतासे, जवानीकी उन्मत्ततासे, स्त्री—हृदयकी

ओछाईसे, अपने स्त्रीस्वभावकी चंचलतासे और ऊपर कही हुई नाटकपात्रोंकी विडम्बनाको देखनेके कौतूहलसे यह विचार करती है कि मेरा प्रसार सर्वत्र हो जावे–कोई भी काम ऐसा न रहे, जिसमें मेरा हाथ न हो और इस लिये जब वह अपनी शरीरभूत (अंशरूप) सुषमा दुःषमादि सखियोंको साथ लेकर और सम[१]य, आ[२]वलिका, मुहू[३]र्त्त, प्रहर, दिन, दिनरात, पक्ष. महीना, ऋतु (दोमास), अयन (छहमास), वर्ष, युग, पल्य[४]. साग[५]र, अवस[६]र्पिणी, उत्स[७]र्पिणी, पुद्[८]गलपरावर्तन आदि परिकरसे वेष्टित होकर अपने पति कर्मपरिणाम महाराजके उक्त संसार-नाटकको देखनेके लिये उनके समीप बैठती है, तब इस घमंडसे कि मै ऐसा कौनसा काम है, जो नही कर सकती हूं, अहंकार-पूर्वक कहती है—"जो पात्र योनि–जवनिका (परदा) के भीतर

---

१. समयका सबसे छोटा परिमाण। २. असंख्यात समयकी एक आवली वा आवलिका होती है। ३ अड़तालीस मिनटका एक मुहूर्त होता है। ४. प्रमाणागुलके (अवसर्पिणी कालके प्रथम चक्रवर्तीका अंगुल) मापसे एक योजन गहरे, एक योजन चौड़े, गोल गड्ढेमे उत्तम भोग भूमिके मेढ़ेके वालोंके अग्रभाग जितने मावें, उनमेंसे एक २ अग्रभागको सौ २ वर्ष पीछे निकालनेसे जितना काल लगे, उतने कालको व्यवहारपल्य कहते हैं। ५. पल्यको दश कोड़ाकोड़ीसे गुणाकरनेसे सागर होता है। ६–७. जिसमे मनुष्योंकी आयु काय क्रमसे कम होती जाती है, उसे अवसर्पिणी और जिसमें बढ़ती जाती है, उसे उत्सर्पिणी। प्रत्येकमे छह २ काल होते है। दश कोड़ाकोड़ी सागरका उत्सर्पिणी और इतनेहीका अवसर्पिणी काल होता है। ८. अनन्त कर्म और नोकर्मोके पुद्गल परमाणुओंको क्रमपूर्वक एकके बाद एक ग्रहण करनेमे और छोड़नेमे जितना समय लगता है, उसे एक पुद्गल परावर्तन कहते है।

हैं, वे सब मेरी आज्ञासे शीघ्र ही बाहिर आवें, जो बाहिर निकल आये हैं और कहर कहर रो रहे हैं, वे माताओंके स्तनोंको ग्रहण करें—दूध पीवें, फिर धूल भरे शरीरसे पृथ्वीपर रेंगे, पद पदपर गिरते पड़ते पैरोंके बल चलें, पेशाब पाखानेसे शरीरको घिनौना बनावें, और इसके पश्चात् बालकपनके भावोंको छोड़कर कुमारावस्थाको धारण करें, और उसमें नानाप्रकारकी हाव-भाव-युक्त क्रीड़ा करें, तथा सारे कलाकौशल्य सीखें। फिर कुमार-वस्थाका उलंघन करके जवानीमें प्रवेश करें, और कामगुरुके उपदेशानुसार इस बातकी परवा न करके कि—इससे हमारे कुलमें कलंक लगेगा और हमारी सारे विवेकी पुरुष हँसी करेंगे—कटाक्ष विक्षेपादि युक्त नानाप्रकारके विलास नृत्यादि कार्य करें तथा परस्त्रीसेवनादि बुरे काम करें। इसके पीछे जवानीको पार करके प्रौढ़ावस्थाको ग्रहण करें और सात्विक भाव, बुद्धि, पौरुष और पराक्रमके प्रकर्षको प्रगट करें। फिर इस मध्यमवयके भावोंको दूर करके बुढ़ापेका आश्रय ले और बली (सिकुड़न), बालोंकी सफेदी, अंग भंग, इन्द्रियोंकी शिथिलता, और शरीरकी (रेंट लार आदिसे) मलीनता दिखलावें, तथा सठियाकर उलटे काम करें। इसके बाद जीवित भावोंसे रहित होकर देहको छोड़ दें और मृतावस्थाका दृश्य दिखलावें। जब यह सब हो जावे, तब फिर योनिजवनिकामें प्रवेश करें और वहां गर्भकी घिनौनी अवस्थाका अनुभवन करें। इसके बाद फिर दूसरा रूप धारणकरके बाहिर आवें। इस प्रकार अनन्त बार आवागमन करें अर्थात् अनन्त बार जवनिकाके बाहिर आवें और अनन्त ही बार नानाप्रकारकी अवस्थाएँ दिखलाकर फिर भीतर जावें।"

इस तरह आज्ञाएँ देकर वह कालपरिणति उक्त नाटकके सारे पात्रोंको स्थिर रूपसे दो क्षण भी नही रहने देती है–क्षण क्षणमें उन्हें अवस्थान्तर करनेको कहती है और बेचारोंको दूसरे दूसरे रूपोंमें परिवर्तित कराती रहती है। और तो क्या उनके इस नाटक कार्यमें जो पुद्गलस्कन्ध नामक उपकरण लगते हैं और जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अपना प्रभुत्व दिखलानेके लिये वह अतिशय चपलस्वभाववाली रानी उन्हें भी क्षण क्षणमें पलटती रहती है। बेचारे पात्र यह सोचकर कि हम क्या करें, राजा भी इसके वशमें है और दूसरा कोई उपाय अपनी रक्षा करनेका है नही, लाचार हो जाते है और कालपरिणति जो २ आज्ञाएँ देती है, उन सबका पालन करते हैं–नानाप्रकारके रूप धारण करके अपनी विडम्बना करते है।

कालपरिणति अपने कामोंसे बतलाती है कि, मेरा प्रभुत्व कर्मपरिणामसे भी बहुत अधिक है। क्योंकि कर्मपरिणामका तो इतना ही प्रभाव वा प्रभुत्व है कि, वह संसार नाटकके अन्तर्गत जितने जीव हैं, उन्हीको नानाप्रकारके रूप धारण कराता है। परन्तु कालपरणतिकी यह शक्ति है कि वह ससार नाटकके बाहिर मुक्तिनगरीके रहनेवाले रूपरहित लोगोंमें भी अपनी क्षण क्षणमें नानाप्रकारकी अवस्थाएँ[1] धारण करानेकी चतुराईको प्रगट करती

---

१. मुक्त जीवो अर्थात् सिद्धोंमे भी कालपरिणतिसे अवस्थानन्तर हुआ करता है। अर्थात् उनके ज्ञानादि गुणोमें प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ क्षणक्षणमें अपनी अवस्था बदलता है, इस लिये उसके संबन्धसे उसको विषय करनेवाला जो सिद्धजीवोंका ज्ञान गुण है उसमें भी

है। इससे मालूम हो सकता है कि, यदि वह अलौकिक शक्तिकी धारण करनेवाली कुछ जियादती करनेको उतारू होवे-अहंकार प्रगट करे, तो ऐसा कौनसा कार्य है जिसे न कर सके।

इस अतिशय अद्भुतरूप नाटकके देखनेसे जो कि निरन्तर होता रहता है-एक क्षणभरको भी बन्द नही होता है, महाराज और महारानीका मन बहुत ही प्रसन्न होता है और वे दोनों उसका देखना ही अपने राज्य पानेका फल समझते हैं।

एक बार वे दोनों राजा रानी एकान्तमें बैठे हुए थे। उस समय राजाको प्रसन्न देखकर रानी बोली,—हे नाथ, संसारमें जितने भोगने योग्य पदार्थ हैं, उन सबको मैने भोगे, जो पीने योग्य हैं, उन्हें पिये, और जो माननीय अभिमानयुक्त जीवित है, उसे माना। लोकमें ऐसा कोई भी सुख नही है, जिसके रसका मैंने आस्वादन न किया हो, इस तरह आपके चरणोंके प्रसादसे मैने सारे कल्याण वा सुख प्राप्त किये हैं। लोकमें जो दर्शनीय वा सुन्दर है, वह सब मैने देखा है। परन्तु हे देव, अभीतक मैने पुत्रका मुंह नही देखा है। अतएव यदि आपके चरणोंके प्रसादसे वह पुत्र मुझे प्राप्त हो जाय, तो मेरा जीवन सफल है अन्यथा यह जीवन पाना न पाना बराबर है-व्यर्थ है।

अवस्थान्तर होना सिद्ध है। यथा—जिस पदार्थको सिद्ध जीव एक समयमे भविष्यत् रूपसे जानते है, उसीको दूसरे समयमे वर्तमानरूपसे और तीसरे समयमे भूतरूपसे जानते है और इस कारण उनका ज्ञान भी भविष्यत् वर्तमान भूतरूप परिणमन करता है। यही सिद्ध जीवोंका अवस्थान्तर है।

राजा—हे देवी, तुमने यह बहुत ही अच्छा कहा। तुम्हारी बात मुझे अच्छी लगी। मैं सब कामोंमें तुम्हारे सुखदुःखका समभागी हूं। इस विषयमें तुम्हें कुछ खेद न करना चाहिये। तुम्हारी यह इच्छा अवश्य सफल होगी। क्योंकि जिस कार्यमें मेरी और तुम्हारी एक चित्तता है—दोनोंकी एकसी इच्छा है, वह अवश्य सिद्ध होगा।

कालपरिणति—नाथ, आपने बहुत ही सुन्दर बात कही। मुझपर बड़ा अनुग्रह किया। मेरी मनोकामना अवश्य सफल होगी। लीजिये, मैंने यह गांठ बांध ली।

पतिके आश्वासन वचनोंसे रानीके नेत्र आनन्दके आँसुओंसे भर आये। उसे विश्वास हो गया कि मेरी इच्छा अवश्य सफल होगी और इससे उसे बड़ा संतोष हुआ।

एक दिन रातके पिछले पहरमें जब वह कमलनयना रानी सो-रही थी, तब उसने स्वप्नमें देखा कि, एक सर्वांगसुन्दर मनुष्यने मेरे मुखमें प्रवेश किया है और कुछ समयके पीछे जब वह फिर बाहिर निकला है, तब कोई मित्र उसे अपने साथ लेकर चला गया है। इसके बाद ही उसकी आंख खुल गई। वह हर्ष विषाद करती हुई उठ खड़ी हुई और राजाके समीप जाकर उसने स्वप्नका सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

राजाने कहा,—हे देवी, इस स्वप्नका फल मेरी समझमें यह आया है कि, तुम्हें एक आनन्दके देनेवाले पुत्रकी प्राप्ति होगी। परंतु वह चिरकाल तक तुम्हारे घरमें नहीं रहेगा।

धर्माचार्यके उपदेशसे वह सचेत हो जायगा और अपने आत्माका कल्याण करेगा ।

कालपरिणति—महाराज, मेरे पुत्र हो जाय, यही मेरे लिये सब कुछ है । पीछे वह अपनी इच्छानुसार चाहे जो कार्य करे । घर रहे या न रहे ।

इसके पश्चात् रानी गर्भवती हो गई । उस गर्भको धारण किये हुए जब तीन महीना बीत गये, तब रानीको दोहला उत्पन्न हुआ । उसकी इच्छा हुई कि, जीवमात्रको अभयदान दिया जाय अर्थात् किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा न हो, जो धन चाहते हैं दीन दुखिया हैं उन्हें मनमाना धन दिया जाय, और जो ज्ञानशून्य है—मूर्ख हैं उन्हें ज्ञानदान दिया जाय । अपने इन सारे मनोरथोंको उसने राजासे कहे और राजाकी आज्ञासे वे सब पूरे किये गये । उसकी सारी इच्छाएं पूर्ण की गईं । इसके बाद रानीने पूरे दिन बीतनेपर एक अच्छे मुहूर्तमें समस्त शुभ लक्षणोंवाले पुत्रको जन्म दिया ।

प्रियनिवेदिका नामकी दासीने शीघ्रतासे राजाके पास जाकर पुत्रजन्मका शुभसमाचार सुनाया । उसे सुनकर राजाको अतिशय आनन्द हुआ । उस समय उन्हें उस आनन्दावस्थाका अनुभव हुआ जिसका कि वर्णन नहीं हो सकता है । उन्होंने इस खुशीमें दासीको जितना वह चाहती थी, उससे भी बहुत अधिक पारितोषिक प्रदान किया और आनन्दसे रोमांचित होकर अपने बड़े २ राजकर्मचारियों वा मंत्रियोंको आज्ञा दी कि,—"महारानीके भाग्यशाली पुत्र होनेकी खुशीमें सारे राज्य भरमें घोषणा

करा दो कि जिसको जो कुछ चाहिये, वह राजभंडारसे ले जावे। सबको इच्छित दान देना शुरू कर दो। इस महादानमें इस बातके सोचनेकी जरूरत नहीं है कि, किसको देना चाहिये और किसको नहीं; तथा किसको देना अच्छा है और किसको बुरा। इसके सिवाय गुरुजनोंकी पूजा करो, परिवारके लोगोंका सन्मान करो, अपने प्यारोंको संतुष्ट करो, कैदियोंको छोड़ दो, आनन्दकी भेरी बजवाओ, स्वच्छन्दतासे नृत्य करो, शराब पीओ, स्त्रियोंका सेवन करो, राज्यके सारे कर (टैक्स) माफ कर दो, दण्ड देना छोड़ दो, भयभीत लोगोंको आश्वासन देकर सुचित्त करो। ऐसा करो जिससे सब ही लोग प्रसन्नचित्त होकर रहें और किसीके पास दुःखकी गन्ध भी न रह जाय।" मंत्रियोंने विनयसे मस्तक नवाकर कहा—"जो आज्ञा" और राजाज्ञाके अनुसार समस्त दान सन्मानादि कार्य कराये। इस तरह समस्त लोगोंके चित्तोंको चमत्कृत करनेवाला जन्ममहोत्सव पूर्ण हुआ। इसके बाद सुन्दर मुहूर्तमें पुत्रका नामकरण किया गया। राजाने अपने मनमें यह सोचकर कि इसकी माताने इसके गर्भमें आनेके समय एक सर्वांगसुन्दर पुरुषको अपने मुंहमें प्रवेश करते देखा था, उसका नाम **भव्यपुरुष** रख दिया। यह सुनकर महारानीने कहा—हे देव, मै भी पुत्रका कुछ नाम रखना चाहती हूं। राजाने कहा—अच्छी बात है, अपनी इच्छानुसार तुम भी कोई नाम रख दो। अच्छे मांगलिक कामोंमें कौन सम्मति न देगा? कहो, तुम्हारी क्या इच्छा है? रानी बोली,—जब यह गर्भमें था, तब मेरी मति अच्छे कामोंके करनेकी ओर झुकी थी, इस लिये

इसका **सुमति** नाम होना चाहिये। यह सुनकर महाराजने कहा —वाह, देवीकी चतुराईसे इस सुन्दर बालकके 'भव्यपुरुष' नामके, साथ 'सुमति' नामका संयोग तो ऐसा हुआ है, जैसे दूधके साथ खांड वा मिश्रीका संयोग होता है। इसके बाद राजाने अतिशय प्रसन्नतासे खूब ठाटबाटके साथ नामकरण महोत्सव किया।

मनुजगति नगरीमें एक **अगृहीतसंकेता** नामकी ब्राह्मणी रहती थी। लोगोंके मुंहसे राजपुत्रके नामकरणका समाचार सुनकर वह अपनी **प्रज्ञाविशाला** नामक सखीसे बोली—प्यारी बहिन, देख, कैसे आश्चर्यकी बात है कि कालपरिणति महारानीके भव्य-पुरुष नामक पुत्रने अवतार लिया है।

प्रज्ञाविशाला—प्यारी सखी, इसमें आश्चर्य किस बातका?

अगृहीतसंकेता—मै समझती थी कि, ये कर्मपरिणाम महाराज निर्बीज हैं और उनकी यह कालपरिणति रानी भी बन्ध्या है। परन्तु अब सुनती हूं कि, इन्हीं दोनोंके पुत्र उत्पन्न हुआ है। यही बड़ा भारी आश्चर्य है।

प्रज्ञाविशाला—अरी मूर्खे, तू सचमुच ही अगृहीतसंकेता अर्थात् अभिप्रायको न समझनेवाली है। क्योंकि तूने इसका परमार्थ वा असली अभिप्राय नहीं समझा है। यह राजा अतिशय वीर्यवान् है। परन्तु इसको दुर्जनोंका दृष्टिदोष न हो जाय—नजर न लग जाय, इस विचारसे इसके अविवेक आदि मंत्रियोंने संसारमें प्रगट कर रक्खा है कि, यह निर्बीज है। इसी प्रकारसे यह महारानी भी अनन्त सन्तानोंकी उत्पन्न करनेवाली है, परन्तु इसको भी उन्होंने दृष्टिदोषके भयसे बन्ध्या प्रगट कर रक्खा

है। वास्तवमें जितने जीव उत्पन्न होते हैं, उन सबके ही ये दोनों जननी और जनक हैं। क्योंकि ये परमवीर्यवान् हैं। और सखी, क्या तूने कभी इनका उस समयका माहात्म्य नहीं देखा सुना है जब कि ये दोनों नाटक देखते हैं? यह राजा तो सारे पात्रोंको अपनी इच्छानुसार नारक, तिर्यंच, मनुष्य, और देवगतिरूप संसारमें लाखों योनियोंसे उत्पन्न हुए जीवोंके रूपमें नाटक खिलाता है और यह रानी उन सब पात्रोंको जो राजाकी इच्छानुसार रूप धारण किये रहते है–"गर्भमें आओ, बालक बनो, कुमार होओ, जवानी दिखलाओ, प्रौढावस्था प्रगट करो, बुढापेका स्वाग लाओ, मर जाओ, फिर गर्भमें जाओ, और फिर जन्म लो," इत्यादि अनेक आज्ञाएँ देकर अनन्त वार अनन्त अवस्थाओंमें परिवर्तन कराती है।

अगृहीतसंकेता—प्यारी सखी, यह तो मैंने सुना कि, कर्मपरिणाम महाराज समस्त पात्रोंको परावर्तन करानेमें समर्थ हैं और कालपरिणति महादेवी उन्हींको जुदी २ अवस्थाएं धारण करानेमें समर्थ है। परन्तु क्या इतनेहीसे इन दोनोंका जननी-जनकत्व सिद्ध हो जाता है?

प्रज्ञाविशाला—प्यारी सहेली, तू बड़ी मूर्खा है। पशु तो अर्द्धकथित भाषाको अर्थात् इशारेकी बातको समझ जाते हैं, परन्तु तुझसे तो साफ २ कहा जा रहा है, तो भी तू नही समझती है। वास्तवमें यह संसार ही नाटक है। और इसके जो जनक अर्थात् करनेवाले हैं परमार्थदृष्टिसे वे ही सबके जननी और जनक हैं।

अगृहीतसंकेता—सखी, जो समस्त संसारके जननी जनक हैं, उन्हें यदि अविवेकादि मंत्रियोंने दुर्जनोंके दृष्टिदोषके भयसे 'बन्ध्या' और 'निर्बीज' कह कर प्रसिद्ध कर रक्खा था, तो फिर इसका क्या कारण है, जो अब एक बड़े भारी महोत्सवकी धूमधामके साथ यह प्रकट कर दिया गया कि, 'भव्यपुरुष' इन्हीका (राजा रानीका) पुत्र है।

प्रज्ञाविशाला—सुनो, मै इसका कारण सुनाती हूं। इसी मनुजगति नगरीमें **'सदागम'** नामके एक परमपुरुष हैं, जो सर्वथा सत्यबोलनेवाले, सारे जीवोंका हित करनेवाले, समस्त पदार्थोंके स्वभावोंके ज्ञाता, और इन दोनोंके अर्थात् कालपरिणति देवी और कर्मपरिणाम महाराजके समस्त रहस्योंके जाननेवाले है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध है—मै उनसे अकसर मिला करती हूं। एक दिन मैने उन्हें हर्षित देखकर आग्रहके साथ पूछा कि, आज आप प्रसन्न क्यों है? उन्होंने कहा—"हे भद्रे, यदि तुझे हर्षका कारण जाननेकी उत्कंठा है, तो सुन। एक दिन एकान्तमें कालपरिणति महारानीने राजासे कहा—महाराज मै इस बातसे बहुत ही दुखी हूं कि, लोग मुझे बन्ध्या समझते है। क्योंकि अनन्त सन्तानोंकी माता होनेपर भी अविवेकादि मंत्रियोंने दृष्टिदोषके भयसे मुझे बन्ध्या प्रगट कर रक्खी है और मेरी सन्तान दूसरोंकी सतान कहलाती है। सच पूछा जाय, तो दृष्टिदोषके भयसे मुझे 'बन्ध्या' प्रगट करना ऐसा ही है, जैसे जूं हो जानेके भयसे कपड़ोंका पहिनना छोड़ देना। इस लिये अब आप इस बन्ध्यारूप अपकीर्तिके कलंकको धोनेका यत्न कर दीजिये।

राजाने कहा–देवी, मेरी भी तो यही दशा है । मुझे भी तो मंत्रिओंने निर्बीज प्रसिद्ध कर रक्खा है । पर धीरज रक्खो । मुझे इस कलंकके धोनेका उपाय मिल गया है । देवीने पूछा—बतलाइये, वह कौनसा उपाय है? महाराज बोले—देवी, अब तुम्हे मेरे सहित इस मनुजगति महाराजधानीमें मंत्रिमंडलके वचनोंकी परवा न करके 'भव्यपुरुष'का जन्म प्रगट कर देना चाहिये। और ख़ूब आनन्द मनाना चाहिये । इससे हमारे और तुम्हारे विषयमें जो लोगोंकी चिरकालसे यह श्रद्धा हो रही है कि, ये निर्बीज और बॉझ है, सो नही रहेगी–यह अजसका दाग़ धुल जायगा । महारानीने प्रसन्नताके साथ राजाकी यह बात मान ली और फिर उन दोनोंने जैसा ऊपर कहा है, वैसा ही किया । इसके पश्चात् हे प्रज्ञाविशाले, यह जो भव्यपुरुष उत्पन्न हुआ है, सो मेरा बहुत ही प्यारा है । इसके जन्मसे मै अपनेको सफल मनोरथ समझता हूं और यही मेरे हर्षित होनेका कारण है ।" यह सुनकर मैने कहा—"आपके हर्षका कारण यथार्थ और सुन्दर है ।" हे सखी, उक्त कारणसे भव्यपुरुष राजारानीका पुत्र प्रगट किया गया है ।

अगृहीतसंकेता—ठीक है सखी, ठीक है । तूने मेरे संन्देहोंको दूर कर दिया । जब मै तेरे समीप आ रही थी तब बाजारमें मैने लोगोंके मुंहसे कुछ बार्ता सुनी थी । उससे भी मैं समझती हूं कि, राजा और रानीको जो अपयशका टीका लगा था, वह मिट गया है ।

प्रज्ञाविशाला—प्यारी सखी, बाजरमें तूने क्या सुना था?

अगृहीतसंकेता—मैंने वहां बहुतसे लोगोंकी भीड़में देखा कि, एक सुन्दर रूपवान् पुरुष खड़ा है और उससे नगरके महाजन विनयपूर्वक पूछ रहे हैं कि, भगवन्, महाराजके जो पुत्र हुआ है, वह कैसा होगा? गुणी होगा या मूर्ख होगा? उसने उत्तर दिया-"भाइयो, सुनो, यह पुत्र काल क्रमसे बढ़ता हुआ समस्त गुणोंका पात्र होगा, इस लिये इसके सारे गुणोंका वर्णन नही हो सकता है और यदि वह हो भी जावे, तो तुम उसे धारण नही कर सकोगे—समझ नही सकोगे। तो भी मै थोड़ासा वर्णन करता हूं। यह रूपका उदाहरण, यौवनका घर, लावण्यका मन्दिर, स्नेहका दृष्टान्त, उदारताका स्थान, विनयका खजाना, गंभीरताका सदन, विज्ञानका आलय, दूसरोंकी आशा पूरी करने रूप दाक्षिण्यका आकर (खानि), चतुरताका उत्पत्तिस्थान, स्थिरताका सीमास्थल, लज्जाका प्रतिनिधि, विषय-प्रगल्भता (प्रत्येक विषयको तत्काल समझ लेना) का उदाहरण और धृति (प्रसन्नता वा धारणा), स्मृति, श्रद्धा आदि सुन्दरियोंका पति होगा। इसके सिवाय यह पूर्वके अनेक भवोंके अभ्यास किये हुए कुशल कर्मोंके (शुभकर्मोंके) कारण बाल्यावस्थामें भी केलिप्रिय (खिलाड़ी) न होगा, बल्कि लोगोंपर गोवत्स सरीखी प्रीति करेगा, गुरुजनोंका विनय करेगा, धर्ममें अनुराग रक्खेगा, विषयोंमें लोलुपता न रक्खेगा, काम क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओंको जीतेगा, और तुम सबके चित्तोंको आनन्दित करेगा।" यह सुनकर वे सब लोग भय और हर्षसे यहां वहाको देखते हुए बोले-"अहो यह बड़े भारी आश्चर्यकी बात है कि, अपने

विषम स्वभावके कारण जो समस्त जनोंकी विडम्बना करती थी–दुःख देती थी, उस कालपरिणति महादेवीने कर्मपरिणाम महाराजके सहित यह बहुत ही अच्छा काम किया कि, इस सकलदेशविख्यात मनुजगति नगरीमें सुमतिवान् भव्यपुरुषको जन्म दिया। सचमुच ही उन्होंने इससे अपने सारे दुश्चरितोंको और पुत्रहीनताके अपयशको धो डाला।" मैने ये सब बातें खूब जी लगाकर सुनी। उस समय मेरे मनमें दो वितर्क उत्पन्न हुए। एक तो यह कि, जिन राजा रानीके विषयमे ऐसी प्रसिद्धि थी कि इनके सतान नही होती है, उनके पुत्र कैसे उत्पन्न हो गया? और दूसरा यह कि, यह पुरुष कौन है जो राजपुत्रकी सारी आगामी बाते सर्वज्ञके समान बतला रहा है कि, वह ऐसा २ होगा। फिर मैने सोचा कि, इन दोनों बातोंका समाधान मै अपनी प्यारी सखीसे (तुझसे) करूंगी। क्योंकि तू सारे वृत्तान्त जानती है—इन बातोंमें बड़ी चतुर है। सो उक्त दोनों वितर्कोंमेंसे तूने एकका तो निवारण कर दिया। अब दूसरा रहा है, सो उसे और मिटा दे।

प्रज्ञाविशाला—सखी, तूने बाजारमे जिसे महाजनोंके प्रश्नका उत्तर देते हुए देखा था, मै उसके कर्तव्योंके द्वारा जान गई कि, वही मेरा परिचित **सदागम** नामक महापुरुष होगा। क्योंकि वही एक ऐसा महात्मा है, जो भूत भविष्यत् और वर्तमानके समस्त पदार्थोंके स्वरूपको हथेलीपर रक्खे हुए ऑवलेके समान बतला देता है। उसको छोड़कर और कोई ऐसा चतुर नही है। यद्यपि इस मनुजगतिनगरीमें अभिनिबोध (मतिज्ञान), अवधि,

मनःपर्यय और केवल नामके और भी चार महापुरुष रहते हैं, परन्तु उनमें दूसरोंको समझानेकी शक्ति नही है। यदि उनके स्वरूपका विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि, वे गूंगे (मूक) है[1]। बल्कि उनके भी स्वरूपको ये सदागम भगवान ही लोगोंके साम्हने प्रगट करते हैं, इस लिये कि सत्पुरुषोंके समान इनको यह एक व्यसन ही पड़ गया है कि, दूसरोंके गुणोंको प्रगट करते रहना।

अगृहीतसंकेता—और यह तो बतला कि, सदागमको यह राजपुत्र अतिशय प्यारा क्यों लगता है? और इसके उत्पन्न होनेसे वे अपने जन्मको सफल हुआ क्यों समझते हैं? यह भी मै सुनना चाहती हूं।

प्रज्ञाविशाला—वे महापुरुष हैं. इस लिये निरन्तर दूसरोंका उपकार करनेमें तत्पर रहते हैं और समस्त जीवोंकी भलाईमें लगे रहते हैं। परन्तु ये पापी प्राणी उनके वचनोंके अनुसार नही चलते है। बेचारे नही जानते हैं कि, इस महापुरुषका कैसा माहात्म्य है, इस लिये हितका उपदेश करनेवाले इन सदागम भगवानको कोई बुरा कहते हैं, कोई उनके उपदेशको सुनते

---

१. ज्ञानके दो भेद है, स्वार्थ और परार्थ। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारज्ञान तो स्वार्थ है अर्थात् आत्मा इनका स्वय अनुभवन करता है, परन्तु सदागम (वचनात्मक श्रुतज्ञान) परार्थ है। अर्थात् आत्मा इसके द्वारा दूसरोको ज्ञान करा सकता है। इसलिये जो स्वार्थज्ञान है, वे एक प्रकारसे मूक ही है। उनसे जानेहुए पदार्थको श्रुतज्ञान ही प्रगट कर सकता है। उनमे स्वय प्रगट करनेकी शक्ति नही है।

नहीं हैं, कोई उनके वचनोंकी हँसी करते हैं, कोई कहते हैं कि, हम उनके उपदेशानुसार चल नहीं सकते हैं, कोई उनके वचनोंसे दूरसे ही डरते हैं, कोई इनसे कहीं हम ठगाये नही जावें, ऐसी शंका किया करते हैं, कोई ऐसे हैं जो उनके वचनोंको समझते ही नहीं है, और कोई सुनते समझते हैं, परन्तु उन्हें रुचिकर नहीं होते हैं, कोई ऐसे हैं, जिन्हें उनके वचन रुचते तो हैं, परन्तु उनके अनुसार वे चलते नही हैं, और कोई उनके उपदेशोंके अनुसार चलने लगते हैं, परन्तु शीघ्र ही शिथिल हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें सदागम महाशयका जो परोपकार करनेरूप मनोरथ है, उसकी भलीभाति सिद्धि नही होती है। इससे उन्हे प्राणियोंकी इस अपात्रतासे बड़ा भारी उद्वेग होता है। यदि कुपात्रोंके लिये बड़े २ प्रयास किये जावें और वे निष्फल हो जावें, तो उनसे गुरुओंके भी चित्तको खेद होता है। और यह जो राजपुत्र हुआ है, सो उन्हें पात्र मालूम होता है। यदि यह 'भव्यपुरुष' होकर भी 'दुर्मति' होता, तो पात्रताको प्राप्त नही होता। परन्तु यह सुमतिरत है, इस लिये पात्रभूत है, और इसी कारण सदागमका अतिशय प्यारा है। इसके सिवाय सदागम महाशयको विश्वास है कि, "इस राजपुत्रके जो सुन्दर (शुभ) कर्मपरिणाम है, सो कर्मपरिणाम इसका पिता है, इसी लिये हैं और इसकी जो 'कालपरिणति' अनुकूल है, सो वह इसकी माता है, इस लिये है। अतएव यह जब बालभावोंको छोड़ देगा, तब अपने स्वभावकी सुन्दरतासे, कल्याणपरम्पराकी समीपतासे और लोगोंके आनन्दका कारण होनेसे इस नगरीमें

मेरे दर्शन करेगा और उस समय इसमें सन्देह नहीं कि इसके इस प्रकार परिणाम होंगे;—

"यह मनुजगतिनगरी बहुत सुन्दर है, जिसमें कि ये सदागम नामक महापुरुष रहते है। और मुझमें भी बहुत करके कोई ऐसी योग्यता है—मेरा भी कोई ऐसा सौभाग्य है जिससे मेरा इनसे मिलाप हुआ है। इस लिये अब मैं इन महापुरुषका विनयपूर्वक आराधन करके-इन्हें प्रसन्न करके इनका जो ज्ञान है, उसका अभ्यास करूंगा।" जब यह ऐसा विचार करेगा, तब अपने मातापिताकी अनुकूलतासे मेरा शिष्य हो जायगा-इसके मातापिता इसे मुझे सौंप देंगे। शिष्य होनेपर मै जब अपना ज्ञान इसके हृदयमें आरोपित कर दूंगा, तब मै अपनेको कृतकृत्य समझूंगा।" सखी, इसी कारण यह सदागम सुमतिशील भव्यपुरुषके जन्मसे अपनेको सफल मनोरथ समझता है और प्रसन्नताके कारण लोगोंके सामने राजपुत्रका गुणकीर्तन करता है।

अगृहीतसंकेता—प्यारी सखी, तूने भगवान् सदागमका बहुतसा माहात्म्य वर्णन किया, परन्तु उनका यह कैसा माहात्म्य कि उनके द्वारा पापी जीव बोधको प्राप्त नही होते हैं? और बोध न होनेसे उनके वचनोंके अनुसार आचरण नही करते है?

प्रज्ञाविशाला—सखी, सुन, जिनकी शक्तिकी सब जगह अरोक गति है, जो अपनी इच्छानुसार ससार-नाटकका अभिनय करते हुए निरन्तर ऐश्वर्यशालियोंको दरिद्री, सुन्दररूपवालोंको कुरूप, पंडितोंको मूर्ख, शूरवीरोंको कायर, मानियोंको दीन, तिर्यंचोंको नारकी, नारकियोंको मनुष्य, मनुष्योंको देव, देवोंको

पशु, राजाको विष्टाका कीड़ा, चक्रवर्त्तीको भिखारी और फिर दरिद्यादिको ऐश्वर्यवानादि बनाया करता है और जिसकी शक्तिके विषयमें अधिक क्या कहा जावे-इतना ही बहुत है कि, उसको उक्त प्रकार परिवर्तन करनेसे रोकनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है; ऐसे कर्मपरिणाम महाराज भी भगवान् सदागमका नाम सुनते ही कांपते है और उनकी गंधमात्रसे पलायन कर जाते है। कर्मपरिणाम महाराज तब ही तक लोगोंको संसार नाटककी विडम्बनासे विडम्बित कर सकते है, जब तक कि ये सदागम भगवान् नही हुंकारते है। यदि ये कभी ललकारें, तो डरके मारे कर्मपरिणामका सारा शरीर ढीला हो जाय और वे इस तरह स्वयं ही समस्तप्राणोंको छोड़ देवें,-जैसे बड़े भारी युद्धमें कायर पुरुष अपने प्राण छोड़ देते है। इस तरह उन्होंने कर्मपरिणामके पंजेसे अनन्त जन्तुओंको छुड़ाये भी है।

अगृहीतसंकेता-जो जीव इन्होंने छुड़ाये है, वे यहां कही दिखते तो नही है।

प्रज्ञाविशाला—कर्मपरिणाम महाराजकी जहां पहुंच नही है, ऐसी एक **निर्वृति** (मोक्ष) नामकी महानगरी है। वे जीव सदागम महोदयकी ललकारसे जब देखते है कि, कर्मपरिणाम महाराज अप्रतिभ वा शिथिल हो गये है-हमपर अब इनका वश नही चल सकता है, तब यह समझ कर कि सदागमने हमको छुड़ा दिये है-कर्मपरिणामके सिरपर पैर रखके ऊपरको उड़ते है और उक्त निर्वृतिनगरीमें पहुंच जाते है। वहां जाकर

वे सारे उपद्रवों और दु:खोंसे रहित हो जाते हैं और सदाकाल परमसुखमें रहते है । इसी कारण वे यहां नहीं दिखते हैं ।

अगृहीतसंकेता—यदि ऐसा है, तो सदागम भगवान् इन समस्त लोगोंको कर्मपरिणामकी चुंगलसे क्यों नही छुड़ा देते है ? क्यों कि इन बेचारोंको उसने वेतरह हैरान कर रक्खा है । ऐसी शक्ति रहनेपर भी ऐसे महापुरुषशिरोमणिके लिये यह योग्य नही है कि, उक्त दुःखी जीवोंकी उपेक्षा करें—उन्हें इस कष्टसे न छुड़ावे ।

प्रज्ञाविशाला—यह सच है, परन्तु क्या किया जाय ? सदागम भगवानकी प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि, वे अपने वचनोंसे विरुद्ध चलनेवाले कुपात्रजीवोंकी उपेक्षा ही किया करते है—उनके सुधारनेका प्रयत्न नही करते है। और जब वे उपेक्षा करते है, तब कर्मपरिणाम महाराज उन्हे यह समझकर कि इनका कोई नाथ नही है—सहायक नही है, खूब हैरान करते है—बहुत ही दुख देते है । पर जो जीव पात्र होते है और इस लिये जो उनकी आज्ञाका पालन करते है, उन्हे वे अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्मपरिणामके कष्टोंसे सर्वथा छुड़ा देते है । और जो सदागम भगवानपर भक्ति रखते है परन्तु शक्तिकी कमीसे उनके वचनोंके अनुसार सम्पूर्णरूपसे आचरण नही कर सकते है—उनके बतलाये हुए अनुष्ठानोंमेंसे बहुतसा, बहुत कुछ, बहुत थोड़ा अतिशय थोड़ा, वा थोड़ेसे भी थोड़ा आचरण करते हैं और यह भी नहीं हो सकता है, तो केवल भक्ति ही उनपर रखते हैं, जो नाम मात्र उनके वचनोंका ग्रहण करते हैं, जो उनके वचनोंके

अनुसार चलनेवाले महापुरुषोंकी यह कहकर कि ये धन्य हैं, कृतार्थ हैं, पुण्यात्मा हैं, इनका जन्म पाना सफल है, केवल बातौनी प्रशंसा करते हैं, अथवा जो केवल उनका नाममात्र ही जानते हैं, पर स्वभावसे भद्रपरिणामी होते हैं और इससे मार्गानुसारी अन्धेके समान जो विना किसी प्रकारका विचार किये ही उनके वचनोंके अनुसार चलते हैं–अर्थात् कुलकी रीति समझकर सदागमके वचनोंके अनुरूप आचरण करते हैं; उन सब जीवोंको यद्यपि कर्मपरिणाम महाराज अपने ससार नाटकमें कितने ही कालतक नचाते हैं, परन्तु यह समझकर कि ये सदागमके अनुयायी वा प्यारे हैं, उन्हे नारकी, पशु, कुमानुष, और कुदेवादिरूप अधमपात्रोंका वेष धारण नही कराते है। किन्तु किसीको अनुत्तर[1] विमानोंके देवोंका, किसीको ग्रैवेयिक देवोंका, किसीको ऊपरके कल्पवासी[2] देवोंका और किसीको नीचेके कल्पवासियोंका वेष धारण कराते हैं। इसी प्रकार किसीको चक्रवर्त्ती, महामांडलिक आदि श्रेष्ठ पुरुष बनाते हैं। यह निश्चय है कि वह इन्हे प्रधान पात्रोंके रूपोंको छोड़कर अप्रधान[3] पात्रोंके रूप कभी धारण नही कराता है। सखी, अब बतला कि, भगवान् सदागमका माहात्म्य इससे अधिक और

---

१. विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाच विमानोके निवासी देव।

२ सौधर्म स्वर्गसे लेकर नव ग्रैवेयिकसे पहले पहलेके देव कल्पवासी कहलाते है।

३. सदागम वा जैनागमके अनुयायी जीव जहा उत्पन्न होते है, वहा प्रधान पुरुष होते है। जैसे स्वर्गोंमे इन्द्र मनुष्योमें चक्रवर्त्ती माडलिक आदि।

क्या कहा जाय? जब उनमें इतनी शक्ति है, तब ही कर्मपरिणाम महाराज उनसे डरते रहते हैं।

हे मृगनयनी, यदि तुझे और भी सुननेकी इच्छा है, तो सुन, मैं सदागम महोदयका स्वरूप कहती हूं। उसे तू अच्छी तरहसे समझना,—ये ही (सदागम भगवान्) जगतके नाथ हैं, ये ही वास्तवमें स्नेह करनेवाले हैं, ये ही जगतकी रक्षा करनेवाले हैं, ये ही सच्चे बन्धु हैं, ये ही विपत्तिके गड्ढेमें पड़े हुए जीवोंको सहारा देनेवाले हैं, ये ही संसार वनमें भटकनेवालोंको मार्ग दिखलानेवाले हैं, ये ही समस्त व्याधियोंके मिटानेवाले महान् वैद्य हैं, रोगोंको नाश करनेवाली अमोघ औषधि हैं, ये ही समस्त वस्तुओंके प्रकाशित करनेवाले दीपक हैं, ये ही प्रमाद-राक्षसकी चुंगलसे शीघ्र ही छुड़ा देनेवाले हैं, ये ही अविरतिरूपी कीचड़के धोनेवाले हैं, ये ही दुष्ट योगोंको रोकनेवाले हैं, ये ही धर्मधन खोये हुए जीवोंको शब्दादि चोरोंके घेरेसे छुड़ानेवाले है, ये ही अतिशय घोर नरकोंसे उद्धार करनेवाले हैं, ये ही पशु पर्यायके दुःखोंसे बचानेवाले है, ये ही कुमानुष योनिके दुःखोंका नाश करनेवाले हैं, ये ही कुदेव पर्यायके मानसिक दुःखोंको मिटाते हैं, ये ही अज्ञानरूपी वृक्षके काटनेके लिये कुल्हाड़ीके तुल्य हैं, ये ही महानिद्रासे सचेत करनेवाले हैं, ये ही स्वाभाविक आनन्दके करनेवाले हैं, इससे साता असातासे उत्पन्न होनेवाली सुखदुःखरूप मिथ्याबुद्धिके मेटनेवाले कहलाते हैं, ये ही महान् क्रोधाग्निके शमन करनेके लिये जल हैं, ये ही महामानरूपी पर्वतको भेदन करनेके लिये वज्र हैं, ये ही मायारूप भयंकर

बाघिनीका घात करनेके लिये अष्टापद हैं, ये ही महालोभरूपी बादलोंके उड़ानेके लिये वायु है, ये ही हास्यविकारको शमन करनेमें समर्थ हैं, ये ही मोहके उदयसे उत्पन्न होनेवाली रतिको नाश करते हैं, ये ही अरतिसे ग्रसित जीवोंके लिये अमृत हैं, ये ही भयभीत जीवोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, ये ही शोकग्रसित जीवोंको ढाढस बँधाते है, ये ही जुगुप्सादि विकारोंको शमन करते है, ये ही काम पिशाचके उच्चाटन करनेमें चतुर है, ये ही मिथ्यात्व अन्धकारके भगानेवाले सूर्य है, ये ही चार प्रकारकी आयुके (नरक मनुष्य तिर्यंच देव) उच्छेद करनेवाले है, क्योंकि उसका उच्छेद हो जानेपर ही ये जीवको मोक्षपुरीमें पहुचाते हैं, शुभ और अशुभ नामक आस्रवोंने जो लोगोंकी विडम्बना कर रक्खी है, उसको अशरीरीस्थान अर्थात् मोक्ष देकर ये ही मिटाते है, अपने भक्तोंको अक्षय और अव्यय सर्वोत्तमपना (तीर्थंकरपद) देकर ये ही ऊंचनीच गोत्रकी विडम्बनाको मिटाते है, ये ही दानादि शक्तियोंको उत्पन्न करते है, और ये ही महावीर्यकी प्राप्तिके कारण है।

उक्त सदागम-भक्तोंको छोड़कर जो महापापी अधम और अभागी है, वे इसके (सदागमके) नामको भी नही जानते है, इस लिये उन्हें कर्मपरिणाम महाराज जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, संसार नाटकमें निरन्तर नाट्य कराते रहते है और दुखी करते है। परन्तु जो पुण्यात्मा पुरुषश्रेष्ठ है तथा जिनका कल्याण होनेवाला होता है, वे इन सदागम भगवानकी आज्ञाका वड़े भारी आदरके साथ पालन करते है, और इससे वे विडम्बित

करनेवाले राजाकी परवा न करके संसार नाटकको छोड़कर निर्वृति नगरीमें चले जाते है और वहां आनन्दका उपभोग करते हैं। जिस समय वे राजाकी नगरीमें निवास करते हैं, उस समय भी सदागमके प्रसादसे निराकुल रह कर राजाको एक तिनकेके समान समझते है। इस विषयमें और अधिक क्या कहा जावे? इतनेहीसे समझलेना चाहिये कि, संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो सदागम भगवानके भक्तोंके लिये सुन्दर सुखकारी न हो जाती हो। इस तरह मैने सदागम भगवानका थोड़ासा माहात्म्य वर्णन किया। उनके गुणोंका विशेष वर्णन करनेके लिये कौन समर्थ हो सकता है?

प्रज्ञाविशालाका उक्त व्याख्यान सुनकर अगृहीतसंकेता विस्मित हो रही। और सन्देहयुक्त होकर वह अपने मनमें इस प्रकार विचार करने लगी—"मेरी सखीने सदागमका जो माहात्म्य वर्णन किया है, यदि वह सत्य हो, तो समझना चाहिये कि, उनसे अधिक गुणी संसारमें और कोई नही है। इस लिये अब मै स्वयं उनका दर्शन करूंगी और निश्चय करूंगी कि, सखीका कथन कहां तक सत्य है। क्यों कि जो बात परप्रत्ययसे अर्थात् दूसरेके द्वारा जानी जाती है, उससे सन्देह दूर नही हो सकता है।"

ऐसा सोचकर उसने प्रज्ञाविशालासे कहा—"प्यारी सखी, इसमें मुझे कोई सन्देह नही है कि, तू सत्यवादिनी है। परन्तु इस समय तूने जो सदागमके ऐसे २ अगणित गुणोंका वर्णन किया जिनका कि होना असंभव मालूम होता है, उससे मुझे

ऐसा जान पड़ता है कि, तू अनर्गलभाषिणी है—बोलते समय तू इस बातका ध्यान नही रखती है कि ऐसी असंभव बातें कहना चाहिये या नही। मेरे मनमें ऐसा विकल्प आता है कि, सदागमसे तेरा अतिशय परिचय है, इसी लिये तू उनकी इस प्रकार प्रशंसा करती है। नही तो, कर्मपरिणाम महाराज किससे डरनेवाले हैं? और एक पुरुषमें इतने गुणोंका होना संभव ही कैसे हो सकता है? कही मेरी प्यारी सखी मुझको ठगती तो नही है—मेरे साथ हँसी तो नही करती है? इस तरहके विकल्पोंसे मेरा मन सन्देहके हिंडोलेमें डोल रहा है, इस लिये तुझे चाहिये कि, मुझे अपने परिचित परमपुरुष (सदागम)का अच्छी तरहसे दर्शन करा दे।"

प्रज्ञाविशाला बोली—"सखी, तूने यह बहुत अच्छी बात कही। मै चाहती भी यही थी। चल, भगवान् सदागम सचमुच ही दर्शनीय हैं।" इस प्रकार बातचीत हो चुकनेपर वे दोनों सदागमके समीप गईं। उन्होंने देखा कि, महाविजयरूप दूकानोंकी पंक्तिसे शोभायमान और अनेक महापुरुषोंसे भरे हुए महाविदेहरूप बाजारमें भगवान् सदागम प्रधान २ पुरुषोंसे वेष्टित हो रहे हैं और भूत वर्तमान और भविष्यत् कालके पदार्थोंके स्वरूपको प्रगट कर रहे है। इन दोनोंने समीप जाकर उनके चरणोंको प्रणाम किया और फिर वे उनके निकट बैठ गईं। उनकी आकृतिके दर्शनसे तथा उन्हें बारबार अतिशय आदर-पूर्वक देखनेसे ही अगृहीतसंकेताका संन्देह एक प्रकारसे नष्टसा हो गया। उसका चित्त बहुत ही आनन्दित हुआ और उसे ऐसा

विश्वास हो गया कि, इनके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गई। वह प्रज्ञाविशालासे बोली,—"हे भाग्यवती, इस महात्मा पुरुषसे तेरा परिचय है, इससे सचमुच ही तू धन्य है और तेरा जीवन सुन्दर है। मै बड़ी मन्दभागिनी हूं, जिसके कि कारण मैंने इस महाभाग और निष्पाप पुरुषके अब तक दर्शन न किये। सचमुच अभागी पुरुष इन भगवान् सदागमका समागम नही पा सकते। भला, जो निर्लक्षण हैं–भाग्यहीन हैं, वे चिन्तामणि रत्नको कैसे पा सकते है? हे मृगलोचनी, आज तेरे प्रसादसे मैने महाभाग सदागमके दर्शन किये हैं, इस लिये मै पवित्र हो गई– मेरे पाप दूर हो गये। हे कमलनयनी, तूने जो इनके गुण वर्णन किये थे. उनका निश्चय मुझे इनके दर्शनसे ही हो गया। यद्यपि अभी मै इनके गुण-गौरवको विशेषतासे नही समझती हूं, परन्तु यह तो मैने अच्छी तरहसे जान लिया है कि और कोई पुरुष इनके समान नही है। मुझ मन्दभागिनीको इनके विषयमें जो पहिले संशय था, वह अब इनके गुणोंके दर्शनोंसे ही लुप्त हो गया। तू सचमुच बड़ी निगूढ-चरिता है अर्थात् तू अपने मनके विचारोंको किसीपर प्रगट नही होने देती है, और सद्भाव-वर्जिता है अर्थात् मनमें कपट रखती है। क्योंकि तूने इससे पहिले मुझे इन महापुरुषके दर्शन नहीं कराये। अस्तु, अब हे सुन्दरी, मै तेरे साथ प्रतिदिन आया करूंगी और इनकी उपासना किया करूंगी। हे सुन्दराङ्गी, तू इनके गुण, इनका स्वरूप, इनका आचार और इनका चित्त कैसे प्रसन्न होता है, ये सब बातें बहुत समयसे जानती है। इस लिये हे मिष्टभाषिणी,

अब वे मुझे भी बतला दे, जिससे मैं भी इनका आराधन करके तेरे ही समान हो जाऊं।"

यह सुनकर प्रज्ञाविशाला बोली—"प्यारी, तूने बहुत ही सुन्दर बात कही। यदि तू ऐसा करेगी, तो मेरा परिश्रम सफल हो जायगा। तुझे समझानेके लिये मैने जो प्रयत्न किया है, वह निष्फल नही जायगा। हे चारुलोचने, तेरा ज्ञान असाधारण है, तेरे वचनोंकी चतुराई आश्चर्यजनक है, और तेरी यह कृतज्ञता भी बड़ी भारी है। यद्यपि संकेतके अभावसे अर्थात् अभिप्रायको समझनेवाली शक्तिके न रहनेसे हे भद्रे, तू सदागम–महोदयको नही जानती है, तथापि वास्तवमें देखा जाय, तो तुझमें योग्यता अवश्य है। यदि तू मेरे साथ निरन्तर इसी तरह विचार करती रहेगी, तो अभीतक जो तूने परमार्थको नही समझा है, सो समझ जावेगी—तत्त्वोंकी जाननेवाली हो जायगी।" इसके पश्चात वे दोनों सखिया प्रसन्नतासे सदागमको नमस्कार करके अपने स्थानको चली गई।

इस तरह वे दोनों सखियां सदागम महोदयकी प्रतिदिन सेवा करने लगी और उनके दिन आनन्दसे कटने लगे।

एक दिन उस बुद्धिमान महापुरुषने (सदागमने) उस विशाल नेत्रोंवाली प्रज्ञाविशालासे कहा–"तुझे चाहिये कि इस सर्वप्रिय राजपुत्रको (भव्य पुरुषको) वालकपनसे ही समस्त गुणोंका स्थान बना दे। और इसके लिये हे भद्रे, तू राजकुलमें जाकर गहरा परिचय कर और उसकी माताके मनको अपनी ओर आकर्षित करके किसी प्रकार उसकी धात्री(धाय) बन जा।

ऐसा करनेसे उस दिनपर दिन बढनेवाले राजपुत्रका तुझपर विश्वास हो जायगा और तब वह सहज ही मेरे वशमें आ जायगा—मुझपर प्रीति करने लगेगा। फिर क्या है, मैं अपना सारा ज्ञानकौशल उस सुपात्रमें निक्षेपण करके—उसे सारा ज्ञान देकर–शीघ्र ही कृतकृत्य हो जाऊंगा।" यह सुनकर प्रज्ञाविशालाने सिर नवाकर कहा—"आर्य, जो आज्ञा। आप जैसा कहते हैं, उसके अनुसार प्रयत्न करनेके लिये मै तयार हूं।" और फिर वह आदरपूर्वक उनके वचनोंके अनुसार कार्य करनेमें तत्पर हो गई।

आगे भव्यपुरुष उक्त प्रज्ञाविशाला नामक सुन्दर धात्रीको पाकर जिस तरह स्वर्गमें देव क्रीडा करते हुए सुखसे रहते हैं, उस तरह क्रीड़ा करता हुआ तथा लालित होता हुआ सुखसे रहने लगा। और क्रम क्रमसे बढता हुआ समस्त लोगोंके नेत्रोंको कल्पवृक्षके समान आनन्द देने लगा। सदागम महोदयने जिन जिन भावी गुणोंका वर्णन किया था, वे सबके सब इसके कुमार–अवस्थामें ही प्रगट हो गये।

एक दिन प्रज्ञाविशाला उस राजपुत्रको सदागम महाराजके समीप ले गई। भाग्यशाली राजपुत्र उस पुण्यात्मा और महाभाग सदागमको देखकर अतिशय प्रसन्न हुआ। क्योंकि वह भाविभद्र था–अर्थात् उसका कल्याण होनेवाला था। इसके पश्चात् भक्तिपूर्वक नमस्कार करके वह उनके समीप बैठ गया और उनके अमृतके समान मनोहर वचनोंका श्रवण करने लगा। उनके चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल

गुणोंसे उसका चित्त मुग्ध हो गया और वह इस प्रकार विचार करने लगा—"अहो, इनके वचन कैसे मधुर है? इनके रूप और गुण कैसे आश्चर्यजनक हें, और मै भी कैसा भाग्यवान् हूं जो मुझे इन महापुरुषके दर्शन प्राप्त हो गये। इस मनुजगति नगरीको भी धन्य है, जिसमें ये सदागम महाशय रहते है। इनके दर्शनसे मै पवित्र हो गया हूं। मेरे पाप नष्ट हो गये है। ये भगवान् सदागम भूत वर्तमान और भविष्यत् कालसम्बन्धी पदार्थोंके स्वरूपको बड़ी ख़ूबीसे बतलाते हैं, इस लिये ये सच्चे उपाध्याय वा अध्यापक हे। यदि ये मुझे मिल जावें, तो मै इनके समीप रहकर सारी कलाओंको सीख लूं।" ऐसा सोचकर उसने अपने अभिप्राय प्रज्ञाविशालासे कहे और उसने उन्हें उसके मातापिताको जाकर सुना दिये। उन्हे सुनकर कर्मपरिणाम महाराज और कर्मपरिणति महाराणीको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। उन्होने उसे एक दिन शुभ मुहूर्त देखकर बड़े भारी महोत्सवके साथ सदागम भगवानको सोप दिया और उनकी पूजा करके तथा अपने पुत्र भव्यपुरुषका कौतुकपूर्वक सत्कार वा प्यार करके कहा—"भगवन्, यह आजसे आपका शिष्य हुआ।" इसके पश्चात् वह सफेद वस्त्रों और भूषणोंसे भूषित, सफेद फूलोंसे सुसज्जित, सफेद चंदनसे चर्चित, धीर और पुण्यात्मा भव्यपुरुष, कलाओंके सीखनेकी इच्छासे बड़ी भारी प्रसन्नता और विनयसे सदागम भगवानका शिष्य हो गया और जिज्ञासु होकर प्रज्ञा-विशालाके साथ प्रतिदिन बुद्धिशाली सदागमके समीप जाने लगा।

एक दिन बाजारके मार्गमें सदागम भगवान् यों ही अपनी इच्छासे जा विराजे थे और उनके समीप भव्यपुरुष भी प्रज्ञाविशालाके साथ बैठा था। उस समय उनका (सदागमका) शरीर अगणित मनुष्योंसे घिरा हुआ था, और वे समस्त पदार्थोंका स्वरूप कह रहे थे। उसी समय अगृहीतसंकेता भी अपनी सखीके समीप आई और सदागमको नमस्कार करके शुद्ध भूमिपर बैठ गई। उसकी प्यारी सखीने उसकी कुशलता पूछी, राजपुत्रने उसका सत्कार किया और वह सदागमके मुखकी ओर एकटक दृष्टिसे देखने लगी।

इतनेमें एकाएक एक ओरसे गुलशोर सुनाई पड़ा। मालूम हुआ कि नीरस और भयावनी डिण्डिमकी ध्वनि हो रही है और दुर्दमनीय लोग अट्टहास कर रहे है। इससे सारी सभाकी दृष्टि उस ओरको गई। देखा कि, थोड़ी ही दूरपर 'ससारीजीव' नामक चोर, पकड़ा गया है और उसीके कारण यह कलकल हो रहा है। उसके सारे शरीरमें राख लिपट रही है, गेरूके हाथे लग रहे है, जले हुए घासकी स्याहीका मस्तकमें तिलक लग रहा है, गलेमें कणवीरमुण्डकी (कनेर वा कर्णिकारके फलोंकी?) माला लटक रही है, वक्षःस्थलमें पड़ी हुई शरावोंकी (मिट्टीके प्यालोंकी) माला उसे कष्ट दे रही है, पुराने पिटक (बांसकी झाल वा टोकरी) के टुकड़ेकी छतरी उसके सिरपर लगी हुई है, चोरीका माल उसके गलेमें एक ओर बँधा हुआ है, गधेपर वह चढ़ा है, चारों ओरसे राजपुरुष उसे घेरे हुए हैं, लोग उसकी निन्दा कर रहे हैं, शरीर उसका कांप रहा है,

कातरतासे नेत्रोंके गोलकोंको वह इधर उधर चला रहा है. डरके मारे उसका हृदय भ्रान्त हो रहा है और दशोंदिशाओंकी ओर वह देख रहा है।

इस संसारीजीवको देखकर प्रज्ञाविशालाको दया आ गई। वह यह सोचकर–कि इस बेचारेकी रक्षा सदागम भगवान्के विना और किसीसे नही हो सकती है–उसके पास गई और उसे यत्नके साथ सदागमके दर्शन कराके और उनका परिचय देकर बोली कि. "हे भद्र, इन महात्माकी शरण ग्रहण कर"। तदनुसार वह सदागमके पास आया। एकाएक कुछ आश्वासन सा मिलनेसे वह कुछ सोचने लगा और नेत्र बन्दकरके जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता है, ऐसी एक विलक्षण अवस्थाका अनुभवन करता हुआ लोगोंके देखते २ धरतीपर गिर पड़ा तथा कुछ समयतक निश्चल पड़ा रहा। नगरके लोग उसकी यह दशादेखकर विस्मित हो रहे। जब उसे कुछ होश आया, तब वह उठा और सदागमकी ओर उद्देश्य करके जोरजोरसे चिल्लाने लगा––"हे नाथ, मेरी रक्षा करो, मुझे बचा लो।" यह सुनकर सदागमने उसे आश्वासन दिया कि "भाई, तू डर मत, तुझे अभय दिया गया।" इसके पश्चात् वह सदागमकी शरणमें प्राप्त हुआ।

जब राजपुरुषोंने देखा कि, सदागमने इसे शरण दे दी है, तब वे यह सोचकर कि अब यह राजशासनकी सीमासे बाहर हो गया––इसपर अब हमारा अधिकार नही रहा–और सदागमका माहात्म्य वा पराक्रम वे जानते ही थे, इसलिये डरके मारे कांपते हुए पीछे हट गये और दूर जाकर खड़े हो गये। इससे

संसारी जीवको कुछ भरोसा हो गया। अगृहीतसंकेताने पूछा—"हे भद्र, तू किस अपराधसे वा किस सम्बन्धसे इन यमराजके सदृश राजपुरुषोंकी चुंगलमें फँसा है।"

संसारीजीव बोला—"आप इस विषयको रहने दें। यह बात कहने योग्य नहीं है। और भगवान् सदागम इसे जानते ही हैं, फिर मेरे कहनेसे लाभ ही क्या है?" सदागमने कहा—"हे भद्र, इस विषयेमें इसे बड़ा भारी कुतूहल होरहा है, इसलिये उसके निवारणके लिये कहनेमें भी क्या हानि है? संसारी जीव बोला—"जो आज्ञा, मै कहता हूं, परन्तु सब लोगोंके साम्हने मुझसे अपनी विडम्बनाका वर्णन नही किया जायगा, इसलिये आप एकान्तकी आज्ञा दे दीजिये।" यह सुनकर सदागमने सभाकी ओर देखा, तो मालूम हुआ कि सारे सभासद वहासे दूर जाकर बैठ गये हैं। अर्थात् वे सब आज्ञा होनेके पहिले ही अभिप्राय समझकर वहांसे उठ गये थे। प्रज्ञाविशाला भी उठना चाहती थी, परन्तु सदागमने उसे यह कहकर रोक ली कि तुम भी संसारीजीवकी बाते सुन लो। उसके पास बैठा हुआ भव्यपुरुष भी उनकी आज्ञासे वहां बैठा रहा। तब उन चारोंके आगे संसारी जीव अगृहीतसंकेताको उद्देशकरके अपनी कथा इस प्रकार कहने लगा,—

"इस लोकमें अनन्त कालतक रहनेवाला और अनन्त जीवोंसे भरा हुआ असंव्यवहार (नित्यनिगोद) नामका नगर है। इस सारे नगरमें अनादि वनस्पति नामक कुलपुत्र रहते हैं। और वहां कर्मपरिणाम महाराजके सम्बन्धी अत्यन्ताबोध (महा

मिथ्यात्व) नामक सेनापति और तीव्रमोहोदय नामके महत्तम (उच्चाधिकारी शासक) निवास करते हैं। ये दोनों हमेशाके लिये स्थायी होकर रहते हैं। इस नगरमें जितने लोग रहते हैं, उन सबोंको ये दोनों, कर्मपरिणाम महाराजकी आज्ञासे निगोद नामक कोठोंके भीतर डालकर संपिण्डित अर्थात् एक दूसरेसे मिले हुए एक ही पिण्डरूप रखते है। वहां वे बेचारे अस्पष्ट चैतन्यताके कारण सोतेसे, 'यह करने योग्य है और यह नही' इस प्रकारके विचारोंकी शून्यतासे पागलसे, एक दूसरेसे अतिशय मोह रखते हैं–साथ नहीं छोड़ सकते हैं इससे मूर्च्छित सरीखे, और उनकी कोई विशेष चेष्टाएँ नही दिखलाई देती हैं, इससे मरे हुओंके समान रहते हैं और इसीलिये गहरी मूढताके कारण वे न कुछ सचेत होते हैं, न बोलते हैं, न कोई विशेष प्रकारकी चेष्टा करते हैं, न छिदते हैं, न भिदते हैं, न जलते हैं, न बहते हैं, न कुटते हैं, न एक दूसरेसे घाते जाते हैं, न व्यक्त वेदनाका अनुभवन करते हैं, और न दूसरा कोई लोक[1]–व्यवहार करते हैं। इसी कारणसे वह नगर असंव्यवहार (अव्यवहारराशि या नित्यनिगोद) नामसे प्रसिद्ध है। मैं उसी नगरका रहनेवाला संसारीजीव नामक कुटुम्बी हूं। मुझे वहां रहते हुए अनन्त काल बीत गये हैं।

"एक दिन तीव्रमोहोदय महत्तम अपने स्थानपर बैठे हुए थे

---

१ वे नित्य निगोदको छोडकर अन्य किसी लोकमें व्यवहार नहीं करते हे अर्थात् दूसरी कोई द्वीन्द्रियादि पर्याय धारण करके कहीं आते जाते नहीं है। इसी कारण कहा है कि, वे कोई दूसरा लोकव्यवहार नहीं करते हैं।

और उनके पास अत्यन्ताबोध सेनापति भी विराजमान थे। इतनेमें मोतियोंकी राशिको धारण करनेवाली समुद्रकी तरंगके समान, ऊंचे पयोधरों (कुचों वा बादलों) से शोभित वर्षाकी शोभाके समान, चन्दनगन्धधारिणी मलयकी मेखला (करधनी) के समान और सुन्दर पत्र (पत्ते वा स्तन आदिपर लिखे हुए चित्र) तथा तिलक (तिलक वृक्ष वा मस्तकका तिलक) रूप आभरणोंसे भूषित वसन्तकी शोभाके समान **तत्परिणति** नामकी प्रतीहारिणीने (द्वारपालिनीने) राजसभामें प्रवेश किया। उसने पृथ्वीपर घुटने टेककर तथा हाथोंको मस्तकसे लगाकर प्रणाम किया और फिर हाथोंकी अंगुली जोड़कर कहा—हे देव, सुगृहीत नामधेय कर्मपरिणाम महाराजका **तन्नियोग** नामका दूत आपके दर्शनोंकी अभिलाषासे ड्योढ़ीपर खड़ा है—उसके लिये क्या आज्ञा है? यह सुनकर तीव्रमोहोदयने हड़बड़ीसे अत्यन्ताबोधके मुँहकी ओर देखा। उसने कहा—अच्छा, तुम उसे शीघ्र ही भेज दो। तत्परिणति 'जो आज्ञा' कहकर गई और उसने दूतको भीतर भेज दिया। उसने भी समीप आकर दोनोंको विनयपूर्वक प्रणाम और अभिनन्दन किया। उन्होंने बैठनेके लिये आसन दिया और उसने उसपर बैठकर उचित गौरव किया। इसके पश्चात् तीव्रमोहोदयने सिंहासनसे उठकर और हाथोंकी अंजुलीको मस्तकपर लगाकर कहा—महाराजाधिराज महाराणी और उनके कुटुम्बीजन कुशलतासे तो हैं?

"**तन्नियोग**—हां, सब कुशलतासे हैं।

"**तीव्रमोहोदय**—यह हमारा सौभाग्य है—हमपर महाराजका

बड़ा भारी अनुग्रह है कि, आपको भेजकर उन्होंने हमारा स्मरण किया। अब, कहिये, आप किसलिये आये हैं?

"तन्नियोग—आपको छोड़कर महाराजके अनुग्रहके योग्य. भला और कौन है? आनेका भी कारण सुनिये। यह तो आपको मालूम ही है कि, महाराजकी एक बड़ी बहिन है, जिसका नाम भगवती लोकस्थिति है, जिसका कि बड़ा भारी आदर किया जाता है, सारे मतलबके कामोंमें जिसकी राय ली जाती है, जिसके वाक्योंका कोई उल्लंघन नही कर सकता है, और जिसकी महिमा अचिन्त्य है। उसे महाराजने प्रसन्न होकर नीचे लिखे अनुसार समझाकर सदाके लिये यह अधिकार दे रक्खा है कि—"हमारा एक सदागम नामका परमशत्रु है, जो हमसे सर्वदा विरुद्ध आचरण किया करता है और जिसको जड़से उखाड़कर फेंक देना सर्वथा असंभव प्रतीत होता है। वह हमारी सेनाको पराजित करके कभी २ बीचबीचमें अपने प्रभावको फैलाता है और इससे कितने ही लोगोंको हमारे अधिकारमेंसे निकाल ले जाता है और अपनी निर्वृत्ति नामकी नगरीमें—जहा कि हम लोगोंकी पहुंच भी नही है—रखता है। यदि यही दशा रही, तो कुछ कालमें हमारी मनुजगतिके लोग कम होते होते सर्वथा क्षय हो जावेंगे और इससे हमारी अपकीर्ति प्रगट होगी। यह ठीक नही है। इसलिये हे भगवती लोकस्थिति, तुझे इसी प्रयोजनको लेकर कि मनुजगतिका क्षय न हो जाय, मेरे अविचलरूप असव्यवहार नगरकी भलीभांति रक्षा करनी चाहिये और सदागम जितने लोगोंको मेरे अधिकारसे छुड़ाकर निर्वृत्ति नगरीको भेज देता है, उतने ही लोग तुझे असंव्यवहार नगरसे लाकर मेरे

शेष स्थानोंमें पहुंचा देना चाहिये। ऐसा करनेसे सदागमके द्वारा मुक्त किये हुए समस्त स्थानोंके जीवोंकी कोई बात भी न पूछेगा कि, वे कहां गये। क्योंकि जितने कम होंगे, उतनेके उतने उक्त नगरसे आजावेंगे और वहांपर लोगोंकी कुछ कमी नहीं है–अनन्त जीव भरे हैं। इससे मेरी छाया भी मलीन न होगी–अपयश तो बड़ी बात है।" लोकस्थितिने इस अधिकारको भाईका बड़ा भारी प्रसाद समझकर ग्रहण कर लिया। महाराज, यद्यपि मैं कर्मपरिणाम महाराजके चरणोंका सेवक हूं, तो भी बहुतकरके लोकस्थितिकी आज्ञामें बँधा हुआ हूं और इसीलिये मैं 'तन्नि-योग' कहलाता हूं। मुझे भगवती लोकस्थितिने आपके पास उतने लोगोंके लानेके लिये—जितने कि सदागमने छुड़ा कर निर्वृति नगरीमें भेज दिये हैं–भेजा है। अब इस विषयमें आपकी क्या आज्ञा है?

"यह सुनकर महत्तम और सेनापतिने कहा–भगवतीने जो आज्ञा की है, उसके पालन करनेके लिये हम तयार हैं।

"**तीव्रमोहोदय**—भाई तन्नियोग, उठो, तुम्हें हम असंव्य-वहार नगर दिखलावें और बतलावें कि उसमें कितने लोग रहते हैं। जिससे तुम महाराजको समझा सको और उन्हें फिर कभी कालान्तरमें भी लोगोंके कम हो जानेकी चिन्ता न होवे।

"**तन्नियोग**—हे आर्य, चलिये मै आपकी आज्ञाका पालन करूं। तदनन्तर वे तीनों उठे और नगरका निरीक्षण करनेके लिये चले। चलते चलते तीव्रमोहोदयने हाथ उठाकर तन्नियो-

गको गोलक[1] नामके असंख्यात महल दिखलाये, और फिर उनके मध्यवर्ती निगोद नामके असंख्यात कोठे दिखलाये, जिन्हें कि बुद्धिमान लोग 'साधारण शरीर' कहते हैं। आगे उन कोठोंके भीतर रहनेवाले अनन्त लोग दिखलाये। यह सब देखकर तन्नियोग विस्मित सा होगया। तीव्रमोहोदयने पूछा, "क्यों भाई, देखा तुमने नगर का विस्तार!" वह बोला-"हां अच्छी तरहसे देख लिया।" तब तालियां बजाकर और खूब जोरसे हँसकर तीव्रमोहोदयने कहा—देखी, आपने सदागमकी मूर्खता? वह कर्मपरिणाम महाराजके लोकको खाली करना चाहता है। बेचारा उसके प्रमाणको-विस्तारको नही जानता है, इसीलिये ऐसी दुराशा करता है। इस नगरमें असंख्यात महल हैं, प्रत्येक महलमें असंख्यात असंख्यात कोठे है और प्रत्येक कोठेमें अनन्त २ लोग रहते हैं। सदागमको यह लोकको खाली कर डालनेका आग्रहरूपी ग्रह आज नही लगा है—अनादि कालसे लगा हुआ है। अबतक वह बराबर यहांसे लोगोंको निकाल रहा है, तो भी इस नगरके एक महलमें ही जितने लोग हैं, उनका केवल अनन्तवां भाग ही वह अबतक निकाल सका है। ऐसी अवस्थामें महाराजको लोगोंके कम होजानेकी चिन्ता क्यों? तन्नियोग बोला—आप सच कहते हैं। महाराजको यह ख्याल ज़रूर रहता है। परन्तु अब मै उनसे आपकी कही हुई ये सब बातें विशेषताके साथ कहूँगा।

---

१ छह महीना और आठ समय में ६०८ जीव मोक्षको जाते है और इतने ही जीव असव्यवहार राशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आते है।

भगवती लोकस्थितिने एक बात और भी कही है कि, इस विषयमें आपको अधिक समय न लगाना चाहिये । इस लिये उनकी आज्ञाका पालन शीघ्र ही होना चाहिये । तब महत्तम और सेनापति आसनपर बैठ गये ।

तीव्रमोहोदय—अच्छा तो, यहांसे भेजने योग्य कौन कौन हैं?

अत्यन्ताबोध—हे आर्य, इस विषयमें अधिक विचार करनेकी क्या आवश्यकता है? यह समाचार समस्त नगरनिवासियोंको सुना देना चाहिये । इसके लिये डोंड़ी पिटवा दीजिये और घोषणा करा दीजिये कि, कर्मपरिणाम महाराजकी आज्ञासे यहांके कुछ लोगोंको उनके यहाके खाली स्थानोंमें भेजना है, इसलिये जिनको वहां जानेकी इच्छा हो–जिनका उत्साह हो, वे स्वयं चले जावे । ऐसा करनेसे बहुतसे लोग कहने लगेंगे कि हम वहा जानेको उत्कंठित हैं–क्यों कि वहा हमारे लिये अनुकूलता है—लाभ है, और जब खाली स्थानोको भरनेके लिये वे स्वयं प्रवृत्त हो जावेंगे. तब जानेवाले लोगोंकी सख्या तन्नियोगको दिखला देवेंगे और उन सबमेंसे जितने हमको रुचेंगे वा जितनोकी आवश्यकता होगी, उतने भेज देवेंगे ।

तीव्रमोहोदय—भाई, तुम यह नही जानते हो कि जो स्वयं परिहत हैं, उनकी वृत्ति कैसी होती है । उन्होंने कभी अपने स्थानको छोड़कर दूसरा स्थान देखा ही नही है । इसलिये उसका स्वरूप भी वे नही जानते हैं–फिर उसकी अनुकूलता तो जान ही कैसे सकते है? यह तो उन्हें मालूम ही कैसे हो सकता है, कि वहां जानेमें लाभ है? अनादिप्रवाहसे ये यहीं रह रहे

हैं और यहीं इनको अच्छा लगता है। इसके सिवाय ये एक दूसरेसे जुदा भी नही होना चाहते हैं। क्योंकि अनादिकालसे सम्बन्ध रहनेके कारण इनमें गहरा स्नेह हो गया है। देखो, यहां जो लोग एक एक कोठेमें रहते हैं, वे अतिशय स्नेहके कारण अपना गाढ सम्बन्ध प्रगट करते हुए एक साथ उच्छ्वास लेते हैं, एक साथ निःश्वास छोड़ते हैं, एक साथ आहार लेते हैं, एक साथ नीहार करते हैं, एकके मरनेपर सब मर जाते हैं, और एकके जीवित होनेपर सब जी जाते हैं। तब बतलाओ कि ये इस प्रकारके प्रेममें फँसे हुए और दूसरे स्थानके गुणोंमे अपरिचित लोग स्वयं ही कैसे जानेको तयार हो जावेंगे? इसलिये आप कोई दूसरा ही उपाय बतलावें, जिससे मालूम हो जाय कि, अमुक २ लोग भेजनेके योग्य हैं।

"यह सुनकर अत्यन्ताबोध इस चिन्तामें पड़ गया कि इस विषयमें अब क्या करना चाहिये। यहा एक दूसरा प्रसंग चलता है—

(संसारी जीव कहता है)—"मेरी भवितव्यता नामकी एक स्त्री है। परन्तु उसे स्त्री नहीं एक साड़ी पहिननेवाला योद्धा ही कहना चाहिये। क्योंकि मै उसका नाम मात्र पति हूं। वास्तवमें पूछा जाय, तो वही भगवती मेरे घरके और अन्य सब लोगोंके घरोंके जितने काम हैं, उन सबका शासन करती है—अर्थात् उसीकी इच्छानुसार सब कार्य होते हैं। क्योंकि उसका कुछ ऐसा ही अचिन्त्य माहात्म्य है कि, उसके कारण वह अपने इच्छित कामोंके करनेमें किसीकी भी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखती है। उस समय वह न यह विचार नही करती है कि,

इसमें पुरुष अनुकूल है या प्रतिकूल; न यह देखती है कि, अभी इसका अवसर है या नहीं, और न यह सोचती है कि, इसमें कोई विघ्न वा आपत्ति तो नहीं आ पड़ेगी। बृहस्पति भी अपना बुद्धिका वैभव दिखलाकर उसे किसी कार्यके करनेसे नही रोक सकते हैं। इन्द्र भी अपने पराक्रमसे उसे नही हटा शकते हैं। और योगी भी उसके प्रतीकारका उपाय नहीं जानते हैं। जो कार्य अतिशय असभव हैं–हो नही सकते हैं, उन्हें भी वह भगवती अपने हाथमें आये हुए पदार्थके समान लीलामात्रसे विना प्रयत्नके सम्पादन करती है। समस्त लोगोंमें जिसका, जब, जहां जैसा, जितना प्रयोजन करने योग्य होता है, उस प्रत्येक प्रयोजन-पर वह ध्यान रखती है और उसका, तब, तहां, वैसा और उतना ही प्रयोजन पूरा कर देती है–फिर उसे तीनों लोक भी निवारण नही कर सकते हैं। उसकी महिमा कहा तक वर्णन की जाय? यदि इन्द्र चक्रवर्ती आदिसे भी कहा जाता है कि, आपकी अच्छी भवितव्यता है, तो वे भी मनमें संतुष्ट होते हैं, मुंहपर प्रसन्नता प्रगट करते हैं, नेत्रोंको विकसित करते हैं, अच्छी भवितव्यताके कहनेवालेको पारितोषिक (इनाम) देते हैं, आपको बहुत मानते हैं अर्थात् अपनेको बड़ा समझते हैं, बड़ा भारी उत्सव कराते हैं, आनन्दकी भेरी बजवाते हैं, आपको कृत-कृत्य जानते हैं और जन्मको सफल समझते हैं। जब इन्द्रादिकी यह दशा है, तब दूसरे लोगोंके विषयमें तो कहना ही क्या है? और यदि इन ही इन्द्र चक्रवर्ती आदिसे कोई यह कह दे कि, आपकी भवितव्यता अच्छी नही है, तो वे डरके मारे कांपने

लगते हैं, दीनता प्रगट करने लगते है, मुंह उनका तत्काल काला पड़ जाता है, आंखोंको वे बन्द कर लेते है, उक्त बुरी भवित-व्यताकी बात कहनेवालेपर क्रोध करते हैं, चिन्तामें डूब जाते हैं, रोने लगते हैं, शोककी अधिकताके कारण अपने सारे कर्तव्योंको छोड़ बैठते हैं, और उसे (भवितव्यताको) प्रसन्न करनेके लिये नाना प्रकारके उपाय सोचने लगते हैं। अधिक क्या कहा जावे, इस चिन्तासे कि यह भवितव्यता फिर कैसे अच्छी होगी, उनके चित्तको जरा भी शान्ति नही मिलती है। उनका जब यह हाल है, तब दूसरोंका तो पूछना ही क्या है' भगवती भवितव्यता जो उसे अच्छा लगता है, वही करती है। इस बातकी अपेक्षा नही करती है कि, यह प्रार्थना कर रहा है, यह विलाप कर रहा है, यह निषेध कर रहा है। मै उसके डरके मारे विकल रहा करता हूं, अपनी इच्छानुसार जो कुछ वह करती है, उसीको बहुत समझा करता हूं और उसका पति हूं, तो भी 'जय देवि,' 'जय देवि' कहता हुआ किसी तरह एक नौकरकी तरह रहता हूं।

''संसारमें कोई भी स्थान ऐसा नही है, जहां उसका उद्योग न चलता हो। तीनों भुवनोंके लिये जो कुछ उचित है, उसे वह जानती है। जब सब सोते है, तब भी वह जागती रहती है। सबकी वह निरूपिका है अर्थात् सबको नियत करनेवाली वा सबका विचार करनेवाली है। जिस तरह मतवाली गंधहस्तिनी निराकुलतासे विचरती रहती है और किसीसे नही डरती है, उसी प्रकारसे भवितव्यता भी इस जगतमें निडर निराकुल होकर

विचरण किया करती है। महाराज कर्मपरिणाम उसकी पूजा करते हैं—सत्कार करते हैं, इस कारण मैं भी प्रयोजनके वश उसका अनुवर्ती रहता हूं—उसके अनुकूल ही चलता हूं। इसी प्रकारसे और भी बड़े २ महात्मा अपने प्रयोजनके लिये उसके अनुयायी हो जाते हैं। कहा भी है—

बुद्धिरुत्पद्यते तादृग् व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाश्चैव यादृशी भवितव्यता ॥

अर्थात् जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसा ही व्यवसाय सूझता है और वैसे ही सहायक मिल जाते हैं।

बहिन अगृहीतसकेता, मेरी उक्त भवितव्यता स्त्रीके गुणोंको अत्यन्ताबोध सेनापति जानता ही था, इसलिये उनका विचार करनेसे उसके मनमें इस प्रकार स्फूर्ति हुई—अरे, ऐसे अच्छे उपायके होते हुए भी मैं क्यों व्यर्थ चिन्ता कर रहा हूं और क्यों आत्माको आकुलित कर रहा हूं। क्योंकि संसारी जीवकी स्त्री भवितव्यता तो यह अच्छी तरहसे जानती है कि, कौन कौन लोग यहासे भेजनेके योग्य हैं और उनका स्वरूप क्या है? इसलिये अब उसीको बुलाकर पूछता हूं। फिर उसने अपना अभिप्राय तीव्रमोहोदयसे कहा। वह बोला,—आपने अच्छा सोचा आपका विचार सुन्दर है और इसतरह उसने भवितव्यताका बुलाना प्रसन्नतासे स्वीकार कर लिया। तब एक पुरुष भेजा गया और भवितव्यता बुलाई गई। शीघ्र ही वह आई और द्वारपालिनी उसे भीतर पहुंचा

गई । तीव्रमोहोदय और अत्यन्ताबोधने यह सोचकर पालागन (वाचिक पादपतन) किया कि एक तो यह अतिशय प्रभावशालिनी है और दूसरे सारी ही स्त्रियां देवियां हैं—आदरणीया हैं । उसने दोनोंको आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया । आसन दिया गया, और उसपर भवितव्यता बैठ गई । इसके बाद तीव्रमोहोदयने भोंहे नचाकर अत्यन्ताबोधको इशारा किया और उसने अभिप्राय समझकर भवितव्यताको तन्नियोग दूतका समाचार सुनाना प्रारंभ किया । उसे सुनकर वह हँस पड़ी ।

अत्यन्ताबोध—भद्रे, यह क्या ?

भवितव्यता—कुछ तो नही !

अत्यन्ताबोध—तो फिर यह बे मौंककी हँसी क्यों ?

भवितव्यता—इसीलिये कि यह कुछ बात नही है !

अत्यन्ताबोध—सो क्यों ?

भवितव्यता—तुम सचमुच ही अत्यन्ताबोध (अतिशय मूर्ख) हो जो इस समाचारको भी मुझे सुनाते हो । मै तो ऐसे समाचारोंके विषयमें निरन्तर ही उद्योगशीला रहती हूं । मै अनन्तकालके समाचारोंको जानती हूं, फिर वर्तमानके समाचारोंकी तो बात ही क्या है ? इसी कारण निष्प्रयोजन होनेसे मै तुम्हारे कथनको 'कुछ बात नही है' कहती हूं ।

अत्यन्ताबोध—आप सच कहती है । मै आपका माहात्म्य भूल गया । मेरा अपराध क्षमा कीजिये और अब जो भेजने

योग्य लोग हों, उन्हें आप ही भेज दीजिये। इसमें हम लोगोंके प्रयत्नकी क्या ज़रूरत है?

भवितव्यता—एक तो यह मेरा पति ही भेजनेके योग्य है। इसके सिवा और जो इसके सजातीय हैं, वे भी हैं।

अत्यन्ताबोध—तुम ही जानो, इस विषयमें हम क्या कहें?

इसके पश्चात् भवितव्यता वहांसे चलकर मेरे पास आई और उसने मुझसे सब समाचार कहा। मैने कहा,—जैसा आप कहें, मैं करनेको तयार हूं। तब मै और मेरी जातिके दूसरे भी बहुतसे लोग जिन्हें तन्नियोग भिजवाना चाहता था चल पड़े। भवितव्यताने तीव्रमोहोदय और अत्यन्ताबोधसे कहा,–मुझे और तुम दोनोंको इनके साथ चलना चाहिये। स्त्रीका पति ही देव है, इसलिये मैं तो संसारी जीवका साथ छोड़ ही नही सकती हूं–मै तो उसके साथ जाऊंगी ही और आप दोनों वहां जाना ही चाहते हैं। तथा इन लोगोंको वहां पहले ही पहल जाना है, इसलिये आपके साथ ही इनका वहां जाना ठीक है–अकेले नही। तब दोनोंने कहा,–जैसा श्रीमती समझें, हम साथ जानेके लिये तयार हैं। इसके बाद सब चल पड़े और एकाक्षनिवास नगरमें जापहुंचे।

उस नगरमें बड़े २ पांच पाटक (मुहल्ले) हैं। तीव्रमहोदयने मुझे उनमेंसे एक मुहल्लेको हाथकी अंगुलीसे दिखलाकर कहा,–भद्र, तुम इस मुहल्लेमें रहो। यह पाटक असंव्यवहार नगरसे बहुत कुछ मिलता है–प्रायः उसी सरीखा है। इसलिये तुम यहां रहनेसे प्रसन्न रहोगे। जिस तरह असंव्यवहार नगरके गोलक नामक महलोंके मध्यवर्ती निगोद नामक कोठोंमें अनन्त लोग

पिण्डीभूत होकर स्नेहसम्बन्धसे रहते हैं, उसी प्रकारसे इस पाटकमें भी बहुतसे लोग रहते है । अन्तर केवल इतना ही है कि असंव्यवहार नगरके लोग तो कभी लोक–व्यवहारमें आते ही नही हैं और इसलिये उन्हें असंव्यावहारिक कहते हैं । यदि वे कभी तेरे समान अन्य स्थानोंमें जाते हैं, तो भगवती लोकस्थितिकी आज्ञासे एक ही बार जाते हैं–अन्य किसीप्रकारसे नहीं । परन्तु जो इस पाटकके रहनेवाले हैं, वे लोक–व्यवहार करते हैं–अन्य-स्थानोंमें आते जाते हैं और इसलिये उन्हें सांव्यावहारिक कहते हैं । इसके सिवा उस असंव्यवहार नगरके सारे निवासियोंका तो 'अनादिवनस्पति' ऐसा सामान्य नाम है, पर इस पाटकके निवासियोंका 'वनस्पति' नाम है । एक विशेषता और भी है कि यहां अनन्त पिण्डीभूत लोगोंके सिवाय प्रत्येकचारी (जुदा जुदा रहनेवाले=प्रत्येक) भी हैं, जो प्रासाद और अपवरकोंमें नहीं रहते हैं–स्वच्छन्दतासे रहते हैं और असंख्यात हैं । इसलिये तुम यही रहो; यह पाटक तुम्हारे पूर्वपरिचित नगरके ही समान है । तब मैने कहा,–जो आज्ञा–मुझे स्वीकार है । फिर मै एक अपवरकमें ठहरा दिया गया । मेरे साथके जो दूसरे लोक थे, उनमेंसे कुछ तो मेरे ही समान उस पाटकमें रख दिये गये, कुछ स्वच्छन्दतासे रख दिये गये और कुछ दूसरे पाटकोंमें भेज दिये गये । निदान मै वहां 'साधारण शरीर' नामक उत्तम अपवरकमें (कोठेमें) अपनी पहली ही स्थितिमें सोते हुएके समान, मूर्च्छितके समान, और मरे हुएके समान, पिण्डीभूत अनन्त लोगोंके सहित एक साथ श्वासोच्छ्वास लेता हुआ, एक साथ

आहार ग्रहण करता हुआ और एक साथ निर्हार करता हुआ अनन्त कालतक रहा ।

एक दिन कर्मपरिणाम महाराजकी आज्ञासे तीव्रमोहोदय और अत्यन्ताबोधने मुझे उक्त अपवरकसे निकाल दिया और भवितव्यताने उसी पाटकमें प्रत्येकचारी बनाकर रख दिया। वहां मै प्रत्येकचारी होकर असख्यात कालतक रहा । उधर कर्मपरिणाम महाराजने लोकास्थितिसे पूछकर, कालपरिणतिसे विचारकर, नियति यदृच्छा आदिको सूचितकर, भवितव्यतासे अनुमति लेकर और विचित्राकार लोकस्वभावकी अपेक्षा करके अपने सामर्थ्यसे उत्पन्न हुए परमाणुओंके द्वारा एक सब प्रयोजनोंकी सिद्धि करनेवाली 'एकभववेद्या' नामकी मुख्य गुडिका (गोली) बनाई थी और उसे भवितव्यताको सोंप दी थी । उसे देते समय कर्मपरिणाम महाराजाने कहा था,—हे भद्रे, तू समस्त लोगोंके व्यापारमें उद्यत रहती है, क्षणक्षणमे समस्त लोगोंके नाना प्रकारके सुखदुःखादि कार्य करते करते थक जाती होगी, इसलिये इस गुडिकाको ग्रहण कर । इसे तू प्रत्येक जीवको दिया करना, और एकके जीर्ण हो जानेपर दूसरी दे दिया करना। ऐसा करनेसे ये गुडिकाएं एक जन्मस्थानमें रहनेवाले जितने जीव हैं उन सबके जुदा जुदा प्रयोजनोंको स्वयं सम्पादित कर दिया करेंगी और इससे तुझे कोई आकुलता न हुआ करेगी। उस दिनसे भवितव्यता राजाकी इस आज्ञाको स्वीकार करके उसके कहे अनुसार सब जीवोंको गुडिका देने लगी ।

जिस समय मै असंव्यवहार नगरमें था, उस समय वहां भी

वह मुझे एकके जीर्ण होनेपर दूसरी और उसके जीर्ण होनेपर तीसरी इस तरह अनेक गुडिकाएँ दिया करती थी; परन्तु वहा उसके प्रयोगसे वह मेरे रूपको केवल सूक्ष्म और एकाकार ही बनाती थी। अब जब वह एकाक्षनिवास नगरमें आई, तब तीव्रमोहोदय और अत्यन्ताबोधको मानो कुतूहल दिखलाती हो, इस तरह उक्त गुडिकाके प्रयोगसे मुझे अनेक आकारका प्रगट करने लगी।

एकाक्षनिवास नगरके पहले (वनस्पति) पाटकमें कभी तो उसने गुडिकाके प्रयोगसे मुझे सूक्ष्मरूप दिया और सूक्ष्ममें भी कभी पर्याप्त बताया, कभी अपर्याप्त बनाया। कभी मै बादराकार (स्थूल) हुआ और उसमें भी कभी पर्याप्त हुआ, कभी अपर्याप्त हुआ। इसके सिवा बादर–अवस्थामें कभी अपवरकवर्ती (कोठोंमें रहनेवाला साधारण) और कभी प्रत्येकचारी (स्वतंत्र जुदा रहनेवाला) हुआ। यहां भी कभी अंकुर, कभी कन्द, कभी मूल, कभी छाल, कभी स्कन्ध (पींड़), कभी शाखा (डाली), कभी प्रशाखा (टहनी), कभी प्रवाल (कोंपल), कभी पत्ता, कभी पुष्प, कभी फल, कभी बीज, कभी मूलबीज, कभी अग्रबीज, कभी पर्वबीज, कभी स्कन्धबीज, कभी बीजरुह, कभी सम्मूर्च्छन, कभी वृक्ष, कभी गुल्म (झाड़ी), कभी लता, कभी बल्ली (बेल), और कभी हरितरूप हुआ। इन अवस्थाओंमें अन्य ग्रामों तथा नगरोंके निवासी (मनुजगति आदि नगरों तथा ग्रामोंके) लोग मुझे भवितव्यताके ही समक्ष छेदते थे, भेदते थे, दलते थे, पीसते थे, भांजते थे, नोंचते थे, छीलते थे और जलाते थे। इस तरह मुझे वे नाना

प्रकारसे कष्ट देते थे, परन्तु भवितव्यता उनकी उपेक्षा करती थी—कुछ खयाल न करती थी।

इस प्रकारके दुःखोंमें जब अनन्तकाल बीत गये और अन्तकालमें दी हुई गुडिका जीर्ण हो गई तब भवितव्यताने मुझे दूसरी गुडिका दी। उसके प्रभावसे मै दूसरे पाटकमें गया जहां कि पार्थिव (पृथ्वीकायिक) नामक लोग रहते हैं और मै भी वहा पार्थिव हुआ। भवितव्यताने एकके बाद एक गुडिका देकर और उससे सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्तरूप अवस्थाओंमें काले, नीले, सफेद, पीले, और लाल रंगके बालू, पत्थर, नमक, हरताल, मैनशिल, अंजन, शुद्धपृथिवी आदि अनेक आकार धारण कराके असंख्यात कालतक विडम्बित किया। वहां मै भेदा गया, दला गया, चूर्ण विचूर्ण किया गया, खंड खंड किया गया और जलाया गया। इस तरह मैंने नाना प्रकारके दुःख भोगे। यहां जब अन्तकी गुडिका जीर्ण हो गई, तब भवितव्यताने मुझे फिर एक और गुडिका दे दी, जिसके माहात्म्यसे मै तीसरे पाटकमें जा पहुंचा। वहां जलीय (जलकायके जीव) नामके कुटुम्बी रहते थे, इसलिये मुझे भी वहां जलीयरूप प्राप्त हो गया। वहा भी भवितव्यताने एकके जीर्ण होनेपर दूसरी और फिर तीसरी इसप्रकार असंख्यात गुडिकाएं देकर तथा उससे नये नये रूप धारण कराके मेरा असंख्यात काल व्यतीत कर दिया।

वहां उसने मुझे ओस, बर्फ़, ओला, कुहरा, शुद्ध जल आदिके रूप रस गन्ध और स्पर्शके भेदसे विचित्र आकार धारण कराये और उक्त अवस्थाओंमें मुझे शीत, उष्ण, क्षार, आदि अनेक

कारणोंसे उत्पन्न हुए अनेक दुःख सहना पड़े। जब वहांकी अन्तिम गुडिका जीर्ण हो गई, तब भवितव्यताने मुझे और एक गुडिका दी, जिसके प्रतापसे मै चौथे पाटकमें पहुंच गया। वहां तेजस्काय नामके असख्यात ब्राह्मण रहते थे, इसलिये मै भी उनमें प्रकाशवान् वर्ण, उष्ण स्पर्श, दाहात्मक काय और पवित्र स्थानवाला ब्राह्मण बन गया। वहां रहते समय मुझे ज्वाला, अंगार, तुषाग्नि (घासकी आग), ज्योति, अलात (कोयला). शुद्धाग्नि, उल्का, वज्र (गाज) आदि नाना संज्ञाएँ प्राप्त हुई। सुलगाने आदिसे वहा भी नाना दुःख सहे। सूक्ष्म, वादर, पर्याप्त. अपर्याप्तकरूपसे वहां असख्यात काल तक रहा। इसके बाद जब अन्तकी गुडिका जीर्ण हो गई तब भवितव्यताने और गुडिका दी, जिसके उपयोगसे मै पाचवे पाटकमें पहुचा। वहा वायवीय (वायुकायिक जीव) नामके असख्यात क्षत्रिय रहते थे। मै भी उष्णशीत स्पर्शवाला, सूझतोंको भी नही दिखनेवाला और पताकाके समान आकारवाला वायवीय क्षत्रिय हो गया और मुत्कलिकावात (स्वच्छन्द वायु), मण्डलिकावात, गुंजावात (वारीक मधुर आवाजवाली हवा), झंझावात (बरसाती तेज़ हवा), संवर्तकवात (घूमनेवाली हवा), घनवात, तनुवात, शुद्ध वात आदि नामोंसे पुकारा जाने लगा तथा हथियारोंके घात और निरोध (रुकावट) आदिसे उत्पन्न होनेवाले नाना दुःख सहने लगा। भवितव्यताने वहा भी मुझे सूक्ष्म, वादर, पर्याप्त, अपर्याप्त रूप वेषोंमें घुमाते हुए असंख्यात काल तक नचाया।

इसके पश्चात् अन्त गुडिकाके नष्ट होनेपर मै अन्य गुडिका

देकर फिर प्रथम पाटकमे पहुंचाया गया और अनन्त कालतक रक्खा गया। फिर दूसरी दूसरी गुडिकाओंके प्रयोगसे दूसरे तीसरे आदि पाटकोंमें पहुंचाया गया और वहां असंख्यात काल तक रक्खा गया। इस प्रकारसे भवितव्यताने उस एकाक्षनिवास नगरमें तीव्रमोहोदय और अत्यन्ताबोधके साम्मने मुझे अनन्त बार पूर्वोक्त पांचों पाटकोमें फिराया।

एक दिन उसने कुछ प्रसन्नतासे कहा,—हे आर्यपुत्र, तुम्हें इस नगरमे रहते हुए बहुत काल बीत गया है–यहा रहते रहते तुम्हारा जी ऊब गया होगा। इसलिये अब मै तुम्हारे इस स्थानके अजीर्णको मिटा देती हूं और तुम्हें दूसरे नगरमें पहुंचाए देती हूं। मैंने कहा–श्रीमतीकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं तयार हूं। तब उसने गुडिकाका प्रयोग किया अर्थात् मुझे गुडिका दे दी।

एक 'विकलाक्षनिवास' (दो इंद्रिय जीवोंका स्थान) नामका नगर है। उसमें मुख्य तीन पाटक या मुहल्ले हैं। उसका शासक एक 'उन्मार्गोपदेश' नामका महत्तम (प्रधान अधिकारी) है, जो कि कर्मपरिणाम महाराजका ही नियुक्त किया हुआ है। उसकी माया नामकी एक स्त्री भी है। उक्त गुडिकाके माहात्म्यसे मै इस नगरके पहले पाटकमें जा पहुंचा। वहां सात लाख कुल-कोड़वर्ती द्विहृषीक (दोइंद्रिय) नामक असंख्यात कुलपुत्र रहते है। मै भी वहां द्विहृषीक हो गया। उस समय मेरी जो पहिले सोती हुईसी, मूर्च्छितसी, और मृतसरीखी अवस्था थी, वह नहीं रही और कुछ प्रगटचेतना हो गई।

तब मेरी स्त्रीने (भवितव्यताने) पूर्वोक्त गुडिका देकर ही

मुझे अपवित्र महापापी कृमि बनाया। उस समय जब वह विशाल नेत्रोंवाली मुझे मूत्रसे, आंतोंसे, क्लेदसे (गीलेपनसे) और जम्बालसे (मैलेसे) भरे हुए पेटमें देखती थी, तब बहुत ही प्रसन्न होती थी। जब कभी कुत्ते आदि पशुओंके दुर्गन्धियुक्त फोड़ों या घावोंके कोटरोंमें अन्य कृमियोंके (लटों या कीड़ोंके) सहित देखती थी, तब मुदित होती थी। इसी प्रकार जब विष्टा आदिमें बिलबिलाते हुए कीड़ेके रूपमें दुखी देखती थी, तब संतुष्ट होती थी। इसके बाद वह दूसरी गुडिका देकर जोंकका रूप धारण कराती थी और मायाके साथ इस प्रकार हँसी करती थी कि–सखी, देख मेरे पतिका कैसा सामर्थ्य है। तू अपने पति उन्मार्गोपदेशका यों ही गर्व करती है। मेरा पति (जोंकरूप) छोटे २ जलाशयोंमे पड़ा रहता है और जब भूखा होता है, तब हर किसीके लगकर उसके घाव या फोड़ेके सारे रक्तको खींच लेता है। उसका ऐसा ही पराक्रम है। और उसकी त्यागशक्ति भी कम नही है–वह ऐसी है कि उस समय हस्तधारीको अर्थात् जो कोई उसे हाथमें लेता है, उसे (पक्षमें, आगे हाथ पसारनेवालेको) अपना रक्त–सर्वस्व अर्थात् सारा पिया हुआ रक्त (पक्षमें, सारा प्यारा धन) दे देता है अर्थात् हाथमें लेनेसे उसका खून झरने लगता है। इस तरह हे अगृहीतसकेता, मेरी स्त्री मुझे विडम्बित करती थी और ऊपरसे उपहास (हँसी) करके दूना दुखी करती थी।

आगे उसने फिर गुडिका देकर मुझे समुद्रका शंख बनाया। उस समय मुझे शंखबजानेवाले जब छिन्न करके बजाते थे, तब वह

बहुत संतुष्ट होती थी। इस तरह विकलाक्षनिवास नगरके उस पहले पाटकमें एकके बाद एक इस तरह असंख्यातरूप धारण करके मै विडम्बित हुआ।

इसके बाद एक दिन उस स्वेच्छाचारिणी भवितव्यताने मुझे और गुडिका दी। उसके सामर्थ्यसे मै दूसरे पाटकमें जा पहुंचा। वहां आठलाख कुलकोड़ोंमें रहनेवाले त्रिकरण (तेइंद्रिय) नामके असंख्यात गृहस्थ रहते थे। मैं भी उनमें त्रिकरण नामक गृहस्थ हुआ। तब भवितव्यता मुझको जूं, खटमल, मत्कोट (मकोड़ा), कुंथु, चिंउटी आदि नाना रूप धारण कराके और उक्त रूपोंमें मुझे भूखके मारे इधर उधर भागते हुए तथा बालकों (मूर्खो) के द्वारा पिसते और जलते हुए देखकर आनन्द सागरमें अवगाहन करती थी। इस तरह इस पाटकमें गुडिकाएँ ग्रहण कर करके मुझ पापीने असंख्यात बार अनेक रूप धारण किये।

फिर एक दिन उस क्रीड़ाप्रिय भवितव्यताने मुझे अवहेलनासे (तिरस्कारसे) एक गुडिका और दी और तीसरे पाटकमें पहुंचा दिया। वहां नौलाख कुलकोड़ोंमें रहनेवाले चतुरक्ष (चौइंद्रिय) नामक असंख्यात कुटुम्बी रहते हैं। वहां मैं भी पतंग, मक्खी, डांस, बिच्छू आदि आकारोंका धारण करनेवाला चतुरक्ष कुटुम्बी हो गया। उक्त अवस्थामें अविवेकी लोग मेरा मर्दनादि करने लगे और यों मैने नाना प्रकारके दुःख सहन किये। यहां भी जब एक गुडिका जीर्ण हो जाती थी, तब दूसरी गुडिका मिलती थी। इस तरह उसने इस पाटकमें मुझे असंख्यात बार नचाया।

बार बार उक्त तीनों पाटकोंमें विवर्तन करते करते अर्थात् इससे उसमें और उससे इसमें आते जाते मैंने हजारों असंख्यात वर्षें पूरी कर दीं। इस तरह कभी पर्याप्तरूप और कभी अपर्याप्त-रूप धारण करा कराके मेरी पत्नीने तीनों पाटकोंमें मुझे खूब ही नचाया।

एक दिन भवितव्यताने प्रसन्न होकर और उचित समय जान-कर कहा,—हे आर्यपुत्र, क्या मै तुम्हे किसी दूसरे नगरमें पहुंचा दूं? क्योंकि अब इस विकलाक्षनिवास नगरमें तुम्हें अच्छा नही लगता होगा। मैंने कहा—हे देवि, जैसा तुम्हे अच्छा मालूम हो, वैसा करो। अधिक क्या कहूं, मेरे सब कामोंमें तुम ही प्रमाण हो। अर्थात् जो कुछ तुम करोगी, उसे ही मै ठीक समझूंगा। तब उसने मेरी अन्तिम गुडिकाको जीर्ण समझकर दूसरे नगरमें जानेके लिये दूसरी गुडिकाका प्रयोग किया। उन्मार्गोपदेश मह-त्तमके अधिकारमें एक पंचाक्षपशुसंस्थान (पंचेंद्रिय) नामका उत्कृष्ट नगर है। वहा ५३॥ लाख कुलकोड़ोंमें रहनेवाले पंचाक्षनामके लोग रहते है। उनके मुख्य तीन भेद है—जलचारी, थलचारी और आकाशचारी। इनमें जो स्पष्टचैतन्ययुक्त हैं—अर्थात् जिन्हें भले बुरेका ज्ञान होता है उन्हें बुद्धिमान लोग संज्ञी और गर्भज कहते हैं और जो उनमें स्पष्टचेतनतासे रहित हैं अर्थात् जिनके भला बुरा सोचनेकी शक्ति नहीं है, उन्हें असंज्ञी तथा सम्मूर्च्छन कहते हैं। गुडिकाके प्रभावसे मै उनमें स्पष्टचैत-न्यवर्जित अर्थात् असंज्ञी पंचाक्ष हुआ।

मेरी भार्या केलिप्रिया थी। क्रीड़ा उसे अच्छी मालूम होती

थी । इससे उसने मुझे वहांपर विना मतलबके निरन्तर टर टर करनेवाला मेंडक बनाकर नाटक कराया । इस तरह उसने सम्मूर्च्छनोंमें असंख्यात रूपोंसे भ्रमण कराके फिर मौजमें आकर गर्भज या संज्ञी बना दिया । उनमें जब मै जलचारी मच्छ हुआ तब धीवरोंने पकड़ा और छेदकर पकाकर तथा और दूसरे प्रकारों-से पीड़ा देकर हजारों दुःख दिये । फिर स्थलचारी चौपायोंमें पहुंचा । वहां खर्गोश, सुआ, हरिण, आदि रूप धारण किये, सो व्याधाओंने बाणोंसे शरीर भेदा और नाना प्रकारसे चीरा काटा । फिर भुजपरिसर्प अर्थात् भुजाओंसे रेंगकर चलनेवाले और और:परिसर्प अर्थात् पेटके बल रेंगकर चलनेवाले लोगोंमें गया । वहां गोह, नकुल और सर्पादिके रूप चिरकाल तक धारण किये और क्रूरतासे परम्पर एक दूसरेको भक्षण करके मैंने बहुत दुःख पाये । इसी प्रकार काग, उल्लू, आदि आकाशचारी पक्षियोंका रूप धारण करके चिरकाल तक असख्यात दुःख सहे । इस तरह उस असंख्यजनोंसे भरे हुए पंचाक्षपशुसंस्थान नगरमें मै वहांके प्रत्येक कुलमे जलचारी थलचारी और नभचारी हुआ ।

इस पंचाक्षपशुसंस्थान नगरमें जब मैं अपर्याप्त हुआ, तब भवितव्यतासे मुझे निरन्तर अर्थात् एकके बाद एक, विना व्यवधानके (अन्तर्मुहूर्तमें) सात सात आठ आठ रूप धारण कराये । फिर अन्य स्थानोंमें पहुंचाया और फिर वही लौटा दिया । ऐसी दशामें अन्य सब स्थानोंमें जा जाकर और फिर वही आ आकर मैंने अनन्तरूप धारण किये । कालकी अवधिसे देखा जाय, तो मैं वहांपर तीनपल्य और कुछ अधिक कोटिपूर्व वर्षतक विना व्यव-

धानके रहा। इस तरह मैं उक्त नगरमें असंज्ञीपर्याप्त, असंज्ञी-अपर्याप्त, संज्ञीपर्याप्त और संज्ञीअपर्याप्तोंके भेदसे नानाप्रकारके आकार धारण कर करके विडम्बित हुआ।

एक बार मै भवितव्यताके वश हरिण हुआ। चंचलनेत्रोंसे भयपूर्वक दशों दिशाओंको देखते हुए और भागते समय वृक्षोंकी शिखरोंको फादते हुए मै अपने झुडके साथ यहां वहां पर्यटन करता फिरता था। एक दिन एक लुब्धक व्याधाने आकर मनोहरस्वरसे गीत गाना शुरू किया। उससे हमारा सारे हरिणोंका झुंड मोहित हो गया। सबने छलांगें भरना छोड़ दिया। हम सबकी बाहरी हलचल रुक गई। नेत्र स्थिर हो रहे। अन्य सब इन्द्रियोंके व्यापार बन्द हो गये और सबकी आत्माएँ केवल कर्णेन्द्रियमग्न हो गईं। हम सबको इस तरह अचल निर्जीवसा देखकर व्याधा कुछ समीप आ गया। इसके बाद उसने धनुषपर डोरी चढाई, बाण संधाना. निशाना बांधा, कंधेको कुछ आकुंचित किया, कान तक बाणको खींचा और फिर उसे छोड़ दिया। मै पास ही था, बाण से छिदकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। इसी समय मेरी पहली गुडिका जीर्ण हो गई।

तब उस हरिणभवकी एकभववेद्य गुडिकाके जीर्ण होनेपर भवितव्यताने दूसरी गुडिका दी। उसके माहात्म्यसे मैने हाथीका रूप पाया। धीरे धीरे बढते बढते मै झुंडका स्वामी हो गया। उस समय मैं स्वभावसुन्दर नलवनोंमें (रामसिरके जंगलोमें), अतिशय प्यारे सल्लकीके कोमल किसलयोंमें, और अत्यन्त कमनीय वनवि-भागोंमें हथनियोंके झुंडके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक आनन्द सागरमें गोते लगाता हुआ विचरता था।

एक दिन अचानक ही हाथियोंका झुंड भयभीत हुआ। हिंसक जन्तु भाग रहे हैं, बांस कड़कड़ा रहे हैं, और धुआं चारों ओरसे उड़कर आकाशमें फैल रहा है। तब यह क्या है, इसके जाननेके लिये मैंने पीछे मैदानकी ओर दृष्टि डाली। जब मैंने देखा कि ज्वालामयी दावाग्नि निकट ही आ रही है, तब मुझे भय हुआ कि कहीं मै इसमें जलकर मर न जाऊं? इससे मैने पौरुषको छोड़ दिया, दीनता अंगीकार कर ली, स्वार्थबुद्धिका सहारा ले लिया, अहंकार छोड़ दिया, और झुंडका त्याग करके एक दिशाकी ओर पलायन कर दिया। थोडी ही दूर गया था कि वहा एक विशाल परंतु सूखा अन्धकूप मिला, जो पुराने समयके ग्रामोंके पशुओंके लिये बनाया गया था। उसके चारों ओर घनी घास ऊगी हुई थी इसलिये, और डरकी आकुलताके कारण, मै उसे देख नही सका। मै जोरसे दौड़ रहा था. इसलिये अचानक ही उसमें मेरे आगेके पैर जा पड़े और आगे कोई अवलम्बन न होनेके कारण मेरा पीछेका भी भाग फिसल पड़ा। निदान मै उस कुएमें ऊपरको मुंह किये हुए गिर पड़ा। शरीरके भारसे चूर चूर हो गया और तत्काल ही मूर्च्छित हो गया। थोड़ा देरमें जब कुछ चेतना आई तब देखा कि शरीरमें चलनेका सामर्थ्य नही रहा है। सारे शरीरमें तीव्रवेदना होने लगी। उस समय मुझे बड़ा भारी पश्चात्ताप हुआ। मैने सोचा कि मुझ सरीखे जीव जो कि, सेवकोंकी तरह सेवा करनेवाले, उपकारी, चिरकालके परिचित, और स्नेही बन्धुजनोंको आपत्तिमें पड़े हुए छोड़कर कृतघ्नतासे केवल अपनी ही रक्षाकी चिन्ता करके भागते हैं, वे इसी तरहसे समझते है—उनकी बुद्धि

इसी तरह ठिकाने आती है। हाय! मै बड़ा निर्लज्ज हूं, जो अब भी मैं यूथाधिपति (झुंडका स्वामी) कहलाता हूं। पर अब इससे क्या? जैसा मैंने किया, वैसा ही फल पाया। अर्थात् दूसरोंको आपत्तिमें फँसा छोड़कर भागा था, सो मै भी इस आपत्तिमें पड़ गया। इसलिये अब मुझे खेद नही करना चाहिये। इस प्रकारकी भावनासे उस समय मेरे मनमें कुछ माध्यस्थ भाव आ गया और इससे उस समय जो मुझे तीव्रवेदना हो रही थी, उसे सहन करने लगा। सात दिन तक उसी अवस्थामें पड़ा रहा। इसी समय मुझपर भवितव्यता प्रसन्न हुई। उसने कहा—हे आर्यपुत्र, धन्य है, धन्य है। तुम्हारे परिणाम बहुत ही सुन्दर हैं। तुमने बड़ा भारी दुःख भोगा है। मै इस समय तुम्हारी चेष्टासे बहुत सन्तुष्ट हूं, इसलिये तुम्हें दूसरे नगरमें भेज देती हूं। मैने कहा,—देवी, आपकी आज्ञा पालन करनेके लिये मै तैयार हूं। तब उसने मुझे एक सुन्दराकार पुरुष दिखलाया और कहा—आर्यपुत्र, मैंने प्रसन्न होकर अब तुम्हारी सहायताके लिये यह पुण्योदय नामका सहायक तजवीज किया है, सो तुम्हें इसके साथ जाना चाहिये। मैने कहा—जो आज्ञा।

इसी समय मेरी पूर्वप्राप्त गुडिका जीर्ण हो गई, इसलिये भवितव्यताने दूसरी गुडिकाका प्रयोग किया और कहा—हे आर्यपुत्र, तुम अब जाते हो, यह पुण्योदय तुम्हारा गुप्त रूपसे सहोदर (एक उदरमें उत्पन्न होनेवाला) और सहचर होगा।

ससारी जीव उक्त प्रकारसे अपनी कथा कह रहा था कि इतनेमें भव्यपुरुषने प्रज्ञाविशालाके कानसे लगकर पूछा—हे माता, यह

पुरुष कौन है और इसने यह क्या कहना शुरू किया है? ये असव्यवहारादि नगर कहां हैं और इस गुडिकासे क्या मतलब है, जो एक एक वासकमें प्रयुक्त होकर नानाप्रकारके रूप बना देती है और विविध प्रकारके सुखदुःखादि कार्य दिखलाती है? एक पुरुषकी इतने समय तक कैसे अवस्थिति रह सकती है और मनुष्य रहते हुए भी वह लट चिउटी आदिके रूप कैसे धारण कर सकता है? यह तो मुझे असभव मालूम होता है। इस चोरकी सारी कथा मुझे एक बडे भारी जालके समान मालूम होती है। अत एव हे माता, मुझे बतलाओ कि इसका क्या भावार्थ है—इसका असली अभिप्राय क्या है।

प्रज्ञाविशालाने कहा—वत्स, इस समय जो तुम इसका विशेष रूप देख रहे हो, उसके विषयमें अभी इसने कुछ भी नहीं कहा है। सामान्यरूपसे यह 'ससारी जीव' नामक पुरुष है इसलिये इसने उसीका निजचरित (ससारीजीवचरित) वर्णन किया है। और जो कुछ कहा है वह सबका सब अच्छी तरहसे घटित होता है।

इसने जो असव्यवहार नगर कहा है, सो असांव्यवहारिक जीवराशि अर्थात् नित्यनिगोद जीवोंका स्थान है। एकाक्षनिवास-नगर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूप पांचों प्रकारके एकेन्द्रिय जीवोंके निवासको समझना चाहिये। दोइंद्रिय, तेइंद्रिय, और चौइंद्रियरूप विकलेन्द्रिय जीवोंके निवासको विकलाक्षनिवास-नगर और पंचेद्रिय तिर्यचोंके स्थानको पंचाक्षपशुसस्थान नगर समझना चाहिये। एकजन्मके योग्य कर्मप्रकृतियोंके समूहको एक-

भववेद्या गुडिका कहते हैं। क्योंकि उसके उदयमें जीवोंको नाना प्रकारके रूप धारण करना पड़ते हैं और विविध प्रकारके सुख दुःख भोगना पड़ते हैं। यह स्पष्ट ही है। और यह पुरुष (आत्मा) अजर अमर है—न कभी जीर्ण होता है और न कभी मरता है। इससे इसकी अनन्त काल तक स्थिति रहना युक्त ही है और उस स्थितिमें इसका लट चिउंटी आदि रूप होना भी ठीक ही है। वत्स, तू अभी मुग्धबुद्धि है। इसलिये यदि तू इसका स्वरूप नहीं जानता है तो इसमें अचरज ही क्या है? क्योंकि इस ससारके भीतर ऐसी कोई बात ही नही है—ऐसी कोई घटना ही नही है, जो इस ससारी जीवके चरितमे न उतरती हो। इसलिये हे वत्स, इसको अपना सारा वृत्तान्त कह लेने दो, पीछे मै निराकुलतासे उसका भावार्थ समझा दूंगी। भव्यपुरुषने कहा—माता, जो आज्ञा।

उपसंहार।

यह निश्चय है कि, कालपरणति और कर्मपरिणामके प्रभावसे भव्य जीवकी इस श्रेष्ठ मनुष्यभूमिमें उत्पत्ति होती है। इसलिये इस प्रस्तावमें पहले तिर्यंचगतिका वर्णन किया है और आगे जीवके संसारभ्रमणका सारा वृत्तान्त जिसकी कि किसीसे तुलना नही हो सकती है—कहा जायगा।

बुद्धिमान पुरुष इस ससारपरिभ्रमणको सदागमके वचनोंके अनुसार मूर्ख पुरुषोंके लिये कहते हैं, और उससे जो विचार-

परायण हैं तथा भव्य है—जिनका होनहार अच्छा है, वे प्रति-बोधको प्राप्त होजाते है।

इस प्रस्तावमें जो संसारका अतुलनीय विस्तार वा परिभ्रमण बतलाया है, उसे जानकर जो भाग्यशाली पुरुष हैं, उन्हें संसारसे विरति वा अरुचि अवश्य होजायगी। परन्तु जिन मूर्ख पुरुषोंको यह संसार सुखकारी मालूम हो सच समझो कि वे पशु है—कार्यकी अपेक्षा मै तो उन्हे मनुष्य नहीं समझता हूं।

इस प्रकार उपमितिभवप्रपंचकथाके हिन्दी भाषानुवादमें तिर्यग्गति-वर्णन नामक दूसरा प्रस्ताव पूरा हुआ।